श्री भागवत दर्शन भागवती कथा, खंड ८० :—

मुरली मनोहर

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८०

गीतावार्त्ता (१२)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम्॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रथम संस्करण
१००० प्रति

कार्तिक पूर्णिमा
२०२७

मू० १.६५ पै०

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक :
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय

॥ श्री हरिः ॥

व्यवस्थापक का वक्तव्य

भागवती कथा (गीता वार्ता) के पाठकों से निवेदन !

भागवती कथा के अन्तर्गत जो यह गीतावार्ता निकल रही है। यह भागवती कथा के ६६ खण्ड से आरम्भ हुई है और इस ८० वें खंड में इसके १२ खंड समाप्त हो गये। पूज्यपाद श्री महाराजजी १०-१५ वर्ष तक गोरक्षा आन्दोलन मे सक्रिय कार्य करते रहे अतः ६८ वें खंड से प्रकाशन बंद हो गया था। अब लगभग सवा वर्ष से पुनः खंडों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। आरम्भ होते समय अत्यन्त कठिनाइयाँ थी। वृन्दावन का जो संकीतन प्रेस था, उसे भी यहीं उठा लाये, वहाँ लगभग डेढ़ वर्ष से ज्यो का त्यों बन्द पड़ा है। यहाँ के प्रेस पर आश्रम पर भी ऋण हो गया था और सब कार्य अस्त व्यस्त हो गये थे। भागवती कथा के बहुत से पिछले खंड भी समाप्त हो गये थे। किन्तु भगवत् कृपा के अधार पर तथा अपने कृपालु सहयोगियो के सहयोग के सहारे कार्य आरम्भ कर दिया। अब हम प्रायः प्रतिमास एक तो नया खंड निकालते हैं, एक पिछले समाप्त हुए पुराने खंडों में से निकालते हैं और एक कोई छोटी-मोटी भागवती कथा के अतिरिक्त पुस्तक निकालते हैं। इतना सब होने पर भी अभी तक हम पुस्तकों की निकासी का, बिक्री का कोई प्रबन्ध नहीं कर सकें, पुस्तकें छपती रहें उनकी बिक्री न हो तो आगे कैसे निकल सकती हैं। पहिले भागवती कथा के एक हजार से ऊपर ग्राहक थे। बीच में प्रकाशन बंद होने से सब टूट गये। कुछ पुराने लोग परलोक

पधार गये, कुछ सरकारी नौकर इधर-उधर अस्त व्यस्त हो गये। पुरानी सरकारें जो पुस्तकें लेती थीं–जैसे उत्तर प्रदेश सरकार प्रत्येक खंड की ३००–३०० प्रति लेती थी, बिहार सरकार प्रति खंड की १८०–१८० प्रति लेती थी, उन सबने लेना बन्द कर दिया। अब नये ग्राहक अब तक कुल २०० के लगभग बने हैं २०) में उन्हें डाक व्यय सहित १२ खंड हम देते हैं। यदि २०–२० रु० देने वाले दो हजार ग्राहक हो जायँ तो भागवती कथा अपने पैरों खड़ी हो जाय। वैसे प्रयत्न करने पर दो हजार ग्राहक बनना कोई कठिन नहीं हैं, किन्तु हमारी ही त्रुटि हैं, हमारी ओर से ग्राहक बढ़ाने के जो प्रयत्न है उनमें से एक भी प्रयत्न नहीं है। न हमारे ऐजेंट है, न कहीं विज्ञापन है, न समालोचना न बिक्री का प्रबन्ध अपनी ओर से कोई उद्योग ही नहीं, इस ओर ध्यान दे, कोई योग्य व्यक्ति ही नहीं।

हिन्दी में ऐसे उदार सहयोगियों का ही अभाव है। तेलगु भाषा में भागवती कथा के ६० खंड छप गये है। ४० खंड पहिले छप चुके थे। एक व्यक्ति ने भागवती कथा पढ़ी। अनुवादक से पूछा—इतनी आकर्षक मनोरंजक शिक्षाप्रद पुस्तक के आगे के खंड क्यों नहीं छप रहे हैं। अनुवादक श्री नरसैया ने कहा—अर्थ के अभाव से नहीं छप रहे हैं। उन्होने तुरन्त दस हजार रुपये दिये जिससे आगे के खंड छप गये। इनका नाम गुण ग्राहकता है।

हमने ५००) ५००) के संरक्षक बनाने की योजना बनायी। कि जो महानुभाव ५००) देकर संरक्षक बन जायँगे। उन्हें भागवती कथा के सब पिछले खंड, आगे प्रकाशित होने वाले खंड तथा संकीर्तन भवन से प्रकाशित अन्य समस्त ग्रन्थ उनके सम्मानार्थ

बिना मूल्य प्रदान किये जायँगे। सो ऐसे सरक्षक भी अब तक १५–१६ ही बने हैं।

अब हम सब पाठकों से तो क्या कहे। सब लोग करते नहीं। पढ लेते हैं और इसी में अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं। अत सब कर सके तब तो बहुत ही उत्तम, नहीं तो जो बन्धु समर्थ हों, व भागवती कथा के प्रचार प्रसार में सहयोग दें।

वे इस प्रकार सहयोग दे सकते हैं।

१. अपने इष्ट मित्रो को भागवती कथा के ग्राहक बनावें। उनसे २०) वर्ष भर के भिजवावें। कम से कम ५–५ ग्राहक सभी बनावें अधिक जितने भी बना सकें बनावें अधिकस्य अधिक फलम्।

२ अपने यहाँ जो विक्रेता हों, उनसे सकीर्तन भवन की पुस्तकें विक्रयार्थ मँगवाने को कहें।

३. जिनकी पुस्तकालयों मे पहुँच हो, वे विद्यालयों के लिये तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों को भागवती कथा मँगावें।

४. जो समर्थ हो वे ५००) रुपये भेजकर आजीवन सदस्य बन जायँ।

५. जो समर्थ हों अपने द्रव्य से भागवती कथा के पूरे खडों को योग्य व्यक्तियों को अथवा पुस्तकालया को दान दें।

६. पुत्री के विवाह म दहेज के साथ एक भागवती कथा का सेट भी बच्ची को प्रदान करें। इस प्रकार ध्यान देने पर पाठक इसके प्रचार प्रसार मे सहयोग दें।

जो भाई (गीता वार्ता) के ६९ वें खड से ग्राहक बने हैं उनकी न्योछावर इस ८० वें खड मे समाप्त हो गयी है। वे ७९-८० खडो को पाते ही २०) मनीआर्डर से तुरत भेज दें। ऐसा न हो वी० पी० उनके पास जाय और

पधार गये, कुछ सरकारी नौकर इधर-उधर अस्त व्यस्त हो गये। पुरानी सरकारें जो पुस्तकें लेती थीं–जैसे उत्तर प्रदेश सरकार प्रत्येक खंड की ३००–३०० प्रति लेती थी, बिहार सरकार प्रति खंड की १८०–१८० प्रति लेती थी, उन सबने लेना बन्द कर दिया। अब नये ग्राहक अब तक कुल २०० के लगभग बने हैं २०) मे उन्हे डाक व्यय सहित १२ खंड हम देते है। यदि २०–२० रु० देने वाले दो हजार ग्राहक हो जायँ तो भागवती कथा अपने पैरों खड़ी हो जाय। वैसे प्रयत्न करने पर दो हजार ग्राहक बनना कोई कठिन नहीं हैं, किन्तु हमारी ही त्रुटि है, हमारी ओर से ग्राहक बढ़ाने के जो प्रयत्न हैं उनमे से एक भी प्रयत्न नहीं है। न हमारे ऐजेंट है, न कहीं विज्ञापन है, न समालोचना न बिक्री का प्रबन्ध अपनी ओर से कोई उद्योग ही नहीं, इस ओर ध्यान दे, कोई योग्य व्यक्ति ही नहीं।

हिन्दी मे ऐसे उदार सहयोगियो का ही अभाव है। तेलगु भाषा में भागवती कथा के ६० खंड छप गये है। ४० खंड पहिले छप चुके थे। एक व्यक्ति ने भागवती कथा पढ़ी। अनुवादक से पूछा—इतनी आकर्षक मनोरंजक शिक्षाप्रद पुस्तक के आगे के खंड क्यो नहीं छप रहे हैं। अनुवादक श्री नरसैया ने कहा—अर्थ के अभाव से नहीं छप रहे हैं। उन्होंने तुरन्त दस हजार रुपये दिये जिससे आगे के खंड छप गये। इनका नाम गुण ग्राहकता है।

हमने ५००) ५००) के संरक्षक बनाने की योजना बनायी। कि जो महानुभाव ५००) देकर संरक्षक बन जायेंगे। उन्हे भागवती कथा के सब पिछले खंड, आगे प्रकाशित होने वाले खंड तथा संकीर्तन भवन से प्रकाशित अन्य समस्त ग्रन्थ उनके सम्मानार्थ

विना मूल्य प्रदान किये जायँगे। सो ऐसे संरक्षक भी अब तक १५-१६ ही बने हैं।

अब हम सब पाठकों से तो क्या कहें। सब लोग करते नहीं। पढ़ लेते हैं और इसी में अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं। अतः सब कर सकें तब तो बहुत ही उत्तम, नहीं तो जो बन्धु समर्थ हों, वे भागवती कथा के प्रचार प्रसार में सहयोग दें।

वे इस प्रकार सहयोग दे सकने हैं।

१. अपने इष्ट मित्रों को भागवती कथा के ग्राहक बनावें। उनसे २०) वर्ष भर के भिजवावें। कम से कम ५-५ ग्राहक सभी बनावें अधिक जितने भी बना सकें बनावें अधिकस्य अधिकं फलम्।

२. अपने यहाँ जो विक्रेता हों, उनसे संकीर्तन भवन की पुस्तकें विक्रयार्थ मँगवाने को कहें।

३. जिनकी पुस्तकालयों में पहुँच हो, वे विद्यालयों के लिये तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों को भागवती कथा मँगावें।

४. जो समर्थ हो वे ५००) रुपये भेजकर आजीवन सदस्य बन जायँ।

५. जो समर्थ हों अपने द्रव्य से भागवती कथा के पूरे खडों को योग्य व्यक्तियों को अथवा पुस्तकालयों को दान दें।

६. पुत्री के विवाह में दहेज के साथ एक भागवती कथा का सेट भी बच्ची को प्रदान करें। इस प्रकार ध्यान देने पर पाठक इसके प्रचार प्रसार में सहयोग दें।

जो भाई (गीता वार्ता) के ६९ वें खंड से ग्राहक बने हैं उनकी न्योछावर इस ८० वें खड में समाप्त हो गयी है। वे ७९-८० खंडों को पाते ही २०) मनीआर्डर से तुरंत भेज दें। ऐसा न हो वी० पी० उनके पास जाय और

लौट जाय इससे आश्रम को बड़ी हानि होगी। अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

जो बन्धु किसी कारण से आगे को ग्राहक न रहना चाहें वे एक पत्र लिखकर हमें अवश्य-अवश्य सूचित कर दें।

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) } विनीत—
व्यवस्थापक

गीता माहात्म्य

[१५]

पुरुषोत्तम योगस्य पाठं कुर्वन्ति ये नराः।
श्लोकार्थं श्लोकपादं वा श्रुत्वा स्वर्गमवाप्यते ॥❀
(प्र० द० ब०)

छप्पय

पन्द्रहवें अध्याय माहिं श्रीभगवत गीता।
शुभ पुरुषोत्तम योग सुनत छूटत भवभीता॥
नृप कृपान-नरसिंह देश शुभ-गौड़ जनेश्वर।
सचिव सरभमेरु ड दुष्ट मरि अश्व भयो वर॥
व्यापारी तें करयो क्रय, चढ़ि अखेट हित नृप गये।
लिख्यो अर्ध इश्लोक तहँ, गीता नृप बाचत भये॥

आर्षग्रन्थों के श्रवण का भी बडा माहात्म्य है। यदि श्रवण का माहात्म्य न होता, तो इन वृक्षादि का उद्धार कैसे होता। वृक्ष तो कहीं सत्संग करने जा नहीं सकते। बोलकर अपने भावों

❀ जो पुरुष श्रीमद्भगवत् गीता के पुरुषोत्तम योग नाम वाले पन्द्रहवें अध्याय का पाठ करेंगे। पूरे अध्याय न सही आधे श्लोक अथवा एक पाद का ही पाठ करेंगे, पाठ न करें केवल श्रवण मात्र से ही वे देवलोक को प्राप्त कर लेंगे।

को व्यक्त नहीं कर सकते। उनकी छाया में संत महात्मा बैठकर स्तोत्र आदि का पाठ करते हैं, भगवन्नामों का कीर्तन करते हैं, उन्हें सुनकर ही उनका उद्धार हो जाता है। यमलार्जुन वृक्षों का उद्धार भगवान् श्रीकृष्ण के स्पर्श मात्र से ही हो गया।

एक बडा भारी बट का वृक्ष था, उसके नीचे किसी विरक्त वैष्णव ने बैठकर श्रीमद्भागवत का पारायण किया। उस वृक्ष ने भी भागवती संहिता का श्रवण किया और उसके सुनते ही वह वृक्ष योनि से मुक्त हो गया।

एक आचार्य ने एक अश्वत्थ वृक्ष को वैष्णवी दीक्षा दी। दीक्षा प्राप्त करते ही–मंत्र श्रवण करते ही–वृक्ष तुरन्त सूख गया। वृक्ष योनि का परित्याग करके दिव्य देह धारण करके स्वर्ग चला गया।

इन वेद शास्त्रों के मंत्रों में ऐसी शक्ति होती है, कि इनका अर्थ चाहे समझे चाहे न समझे सुनने से ही पाप क्षय हो जाते हैं "श्रुतंहरति पापानि" अर्थ समझकर माहात्म्य ज्ञान पूर्वक पाठ करे, तब तो अति उत्तम ही है, सोने में सुगन्ध के सदृश है, किन्तु माहात्म्य न भी जानता हो, अर्थ का ज्ञान भले ही न हो, केवल श्रवण मात्र से ही पुण्य मिलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवत् गीता के पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिवजी ने पार्वतीजी को तथा भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी को सुनाया था।"

भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी से कहने लगे—"प्रिये! अब मैं तुम्हें गीता के उस पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जो पुरुषोत्तम-योग के नाम से विख्यात है। वास्तव में जो पुरुष इस अध्याय का निरन्तर पाठ करता है, वह सभी पुरुषों में उत्तम

बन जाता है। पाठ न भी कर सके केवल सुने ही तब भी पुरुष पुण्यात्मा बन जाता है। पूरा न सुन सके एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा चौथाई श्लोक ही सुने तो भी उसे अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन इतिहास है, उसे मैं तुम्हे सुनाता हूँ।"

भारतवर्ष के ब्रह्मावर्त प्रदेश मे गौड देश के नाम से एक परम पावन देश है। पहिल इस देश मे गुड अधिक होता था, इसीलिये यह गौड देश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्राचीनकाल मे इसी देश मे कृपाण-नरसिंह नाम के एक राजा राज्य करत थे। वे बडे ही यशस्वी शूरवीर तथा विख्यात योद्धा थे। उनकी कृपाण की धार से रण मे देवगण भी परास्त हो जाते थे। उनका एक सरभमेरुण्ड नाम का विख्यात सेनापति था। वह शस्त्र तथा शास्त्र की सभी कलाओं मे परम निपुण था। उसके भुजदडो के प्रचड प्रबल प्रहार से बडे-बडे शूरवीर थर्रा जाते थे। राजा की समस्त सेना उसके वश मे थी। आज्ञानुवर्तिनी सेना को वह जसी भी आज्ञा देता, उसी का समस्त सैनिक पालन करते।

एक बार उसके मन मे पाप आया-"कि समस्त सेना तो मेरे अधीन है ही। मै क्यो नही राजा को तथा राजपुत्रो का मार कर इस राज्य का अधीश्वर बन जाऊँ। मै ही सिंहासन पर बैठ कर सम्पूर्ण प्रजा का पालन करूँ।" वह मन ही मन राजा बनने का मसूबा बना रहा था, किन्तु विधिना को यह स्वीकार नही था। एक दिन उसको विषूचिका (हैजे) का रोग हुआ और कुछ ही काल मे वह प्रबल काल का कवल बन गया। उसकी मृत्यु हो गयी। राजा को उसकी अकस्मात् मृत्यु पर बडा दुःख हुआ।

गौडेश्वर महाराज नरसिंह देव के राज्य मे ही एक घोडो का व्यापारी वैश्य पुत्र था। वह सिंधु देश के विख्यात घोडो को

सिन्धु देश से क्रय करके लाता और उन्हें भिन्न-भिन्न राजधानियो मे बेचकर धनोपार्जन किया करता। एक बार वह घोडा क्रय करने सिन्धु देश मे गया। वहाँ उसने एक बहुत ही सुदर सर्व सुलक्षण सम्पन्न परम सुदर घोडे को देखा उस घोड़े का उदर सुदर और सटा हुआ था, वह चलने मे बडा वेगशाली तथा परम तेजस्वी था। वह श्रेष्ठि पुत्र तो अश्वविद्या मे निपुण था। उसने सर्वलक्षण लक्षण्य उस सुन्दर घोडे को देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने सोचा—'जैसे हो तैसे इस घोडे को लेकर मै अपने राजा को दूँ। हमारे राजा बडे गुण ग्राही हैं, इस घोडे को पाकर वे मुझ पर परम प्रसन्न होगे और मुझे मुँह माँगा पारितोषिक दगे। इससे मुझे धन भी मिलेगा और राजा का प्रीति भाजन भी बन सकूंगा।" यही सब सोचकर उसने घोडे के स्वामी से बातें की। पहिले तो वह उसे बेचने को सहमत ही न हुआ, किन्तु जब इसने बहुत आग्रह किया, तो उसने उसका बहुत अधिक मूल्य माँगा। उस घोडे के स्वामी को उसका मुंह माँगा धन देकर श्रेष्ठि पुत्र ने उस परम तेजस्वी घोडे को क्रय कर लिया और बडी सावधानी के साथ अपनी नगरी तक ले आया।

वह उस घोडे को लेकर राजा के महल मे गया। उसने द्वारपाल से कहा—"महाराजा से निवेदन करो, मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ।"

वह नगर का नामी धनिक था। श्रेष्ठिपुत्र को राजा जानते थे। जब द्वारपाल ने श्रेष्ठि पुत्र के आगमन की सूचना दी और उसका सदेश सुनाया, तब राजा ने पूछा—"श्रेष्ठि पुत्र केवल दर्शन करना ही चाहते हैं, या उनका कोई काम भी है?",

द्वारपाल ने आकर श्रेष्ठिपुत्र को राजा की आज्ञा सुना दी।

तब श्रेष्ठि पुत्र ने कहा—"महाराज से निवेदन करो मैं उनके निमित्त सिन्धु देश से एक रत्न लाया हूँ।"

द्वारपाल ने राजा से निवेदन किया, तब राजा ने श्रेष्ठिपुत्र को बुलवाया। राजा ने पूछा—"कहो, भाई अब के तो तुम बहुत दिनो मे आये। सिन्धु देश से हमारे लिये कौन-सा रत्न लाये हो।"

सादर अभिवादन करके श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—'अन्नदाता! मैं सिन्धु देश से महाराज के ही निमित्त सर्व शुभ लक्षण सम्पन्न सर्वोत्तम अश्व लाया हूँ। वह इस लोक का ही नही तीनो लोको का रत्न है, ऐसा घोडा मिलना बडा ही दुर्लभ है। मैं बहुत भारी मूल्य देकर बडी कठिनाई से उसे लाया हूँ।"

राजा तो गुणग्राही थे। इस समाचार को सुनकर वे परम प्रसन्न हुए। उन्होने कहा—"अच्छा, उस अश्व को मेरे समीप लाओ।"

'जो आज्ञा' कहकर श्रेष्ठिपुत्र बाहर गया और घोडे सहित पुनः महाराज के सम्मुख समुपस्थित हुआ। अश्व को देखकर राजा परम विस्मित हुए, वह उच्चैश्रवा के सदृश प्रतीत होता था, उसके सौंदर्य के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या था, मानो वह सुदरता का आलय ही था, समस्त शुभ लक्षणो का सागर ही था। राजा ने शालिवाहन शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानो को बुलाकर घोडे को दिखाया। सभी ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की, उस घोडे की सुदरता को देखकर शालिवाहन शास्त्रियो द्वारा उसके शुभ लक्षणो की प्रशसा सुनकर महाराज को अपार आनद हुआ। वे, आनन्द मे मग्न होकर वैश्यपुत्र की प्रशसा करने लगे और उसने, जितना भी मूल्य माँगा उतना तो उसे दिया ही। पारितोषिक के रूप मे और भी अतिरिक्त धन उसे दिया।

घोडे को जो देखता वही प्रसन्न हो जाता; सब लोग उसकी प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं थे। एक दिन राजा उस पर चढकर मंत्री सैनिकों सहित अरण्य में मृगया के निमित्त गये। राजा ने वन में एक मृगों का झुंड देखा, उसके पीछे उन्होंने अपना घोडा दौडाया। मृग भी चौकडियाँ मारकर वायु में उडने से लगे। घोडा भी उनके पीछे वायु वेग से दौडने लगा। सेवक सैनिक तथा सचिवों के घोडे उस घोडे के वेग को कैसे पा सकते थे, वे सब पिछड गये। राजा अकेले पड गये। सघन वन में लताओं के झुंडों में मृग विलीन हो गये। अत्यन्त परिश्रम तथा धूप के कारण राजा क्लांत हो गये थे। प्यास के कारण उनका कंठ सूख रहा था। अब राजा ने मृगों का पीछा करना तो छोड दिया, वे जल के अन्वेषण में इधर-उधर परिभ्रमण करने लगे। आगे उन्हें एक चट्टान दिखायी दिया। राजा घोडे पर से उतरे घोडे को तो एक वृक्ष से बाँध दिया। वे स्वयं ही चट्टान पर चढने लगे।

राजा कुछ दूर ही गये होंगे कि उन्हें एक छोटा सा भोज पत्र दिखायी दिया। राजा ने भोजपत्र को उठाया। उस पर कुछ लिखा था। राजा उच्च स्वर से उस पर लिखे शब्दों को पढने लगे–उस पर श्रीमद्भगवत् गीता के पन्द्रहवें अध्याय का यह आधा श्लोक लिखा था—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्" राजा के मुख से इस आधे श्लोक को सुनते ही घोडा धडाम से धरणी पर गिरा और तुरन्त ही मर गया। राजा ने देखा अश्व शरीर परित्याग करके उसका 'जीवात्मा दिव्य रूप धारण करके सुंदर दिव्य विमान पर चढकर देव लोक को चला गया।

राजा को घोडा की सद्गति देखकर परम आश्चर्य हुआ। वे उस चट्टान पर चढ गये। वहाँ से उन्हें एक परम रम्य ऋषि

आश्रम दिखायी दिया। जिसमे अग्निहोत्र के हवन का धूम उठ रहा है, जिसमे से दिव्य सुगध आ रही है। आश्रम की शोभा अपूर्व थी। वह कदली खड मडित था। स्थान-स्थान पर सफल कदली स्तम्भ शोभा पा रहे हैं। कदली के पत्ते हिल-हिल कर मानो अपने हाथो को हिला-हिला कर पथिको को अपने समीप बुला रहे हैं। वहाँ नागकेशर, आम, जामुन तथा नारिकेलि के वृक्ष लहरा रहे है। ऐसे सुदर स्वच्छ सुखद आश्रम को देखकर राजा का मन परम प्रमुदित हुआ वे आश्रम के भीतर चले गये। वहाँ उन्होने बहुत से व्रत सदाचार का पालन करने वाले वेदवेत्ता मुनियो को देखा। जो तपस्या के तेज से जाज्वल्यमान थे। राजा ने उन ब्राह्मणो के पाद पद्मो मे प्रणाम किया। ब्राह्मणो ने भी राजा का अभिनदन किया। स्वागत करके उनकी कुशल पूछी।

राजा ने उनका आतिथ्य स्वीकार करके हाथ जोडकर कहा—"हे तत्वदर्शी ब्राह्मणो! मैं आप से एक बात पूछना चाहता हूँ। आपकी आज्ञा हो तो पूछूं?"

राजा की बात सुनकर उन ब्राह्मणो मे जो एक परम शान्त दान्त तेजस्वी, तपस्वी मन्त्र वेत्ता, त्रिकालदर्शी मुनि श्रेष्ठ विष्णु शर्मा नाम के द्विजवर थे, उन्होने कहा—"राजन्! आप जो पूछना चाहे प्रसन्नता पूर्वक पूछे।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन्! मैं मृगया के निमित्त अरण्य मे आया था, मै अपने सगो साथियो से बिछुड गया। प्यास के कारण मै जल का अन्वेषण करते हुए यहाँ आया। घोडे को बाँधकर मै चट्टान पर चढा कि मेरा घोडा मर गया। अत्यत वेग से दौडने स हृदय फटने से घोडे का मर जाना कोई आश्चर्य की बात नही, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है, कि वह दिव्यरूप धरके दिव्य विमान पर बैठकर दिव्यलोक को चला गया

किस कारण हुआ ? किस पुण्य प्रभाव से उसकी सद्गति हुई ?"

राजा की बात सुनकर विष्णु शर्मा बोले—"राजन् ! तुम्हारे यहाँ पहिले कोई 'सरभ मेरुण्ड" नाम का सेनापति था ?

राजा ने कहा—'हाँ, भगवन् ! मेरे यहाँ इस नाम का एक परम पराक्रमी वीराग्रगण्य सेनापति अवश्य था।"

विष्णु शर्मा बोले—"बस, राजन् वह तुम्हारा सेनापति ही मर कर यह घोड़ा हुआ था।"

राजा ने पूछा—"उस सेनापति को किस पाप के कारण यह घोड़े की अधम योनि प्राप्त हुई ?"

ब्राह्मण ने कहा—"राजन् ! यह दुर्बुद्धि आपका पुत्रों सहित वध करके स्वय ही राजा बनना चाहता था। ऐसी इसकी दुरभिसन्धि थी। किन्तु इसका मनोरथ सफल नही हुआ, बीच मे ही विषूचिका रोग से इसकी मृत्यु हो गयी और इसी पाप से यह सिन्धु देश मे घोडा हुआ। पूर्वजन्मो के संस्कार वश यह पुन आपकी सेवा मे आ गया।"

राजा ने पूछा—"फिर किस पुण्य के प्रभाव से इसको सद्गति हुई ?"

विष्णु शर्मा ने कहा—"राजन् ! भोजपत्र के टुकड़े पर श्रीमद्भगवत् गीता के पन्द्रहवें अध्याय के आधे श्लोक को आपने इसके सामने पढ दिया। उसी के श्रवण मात्र से-उसी के पुण्य प्रताप से-इसकी सद्गति हो गयी।"

गीता के आधे श्लोक का ऐसा माहात्म्य सुनकर राजा परम विस्मित हुए। इतने मे घोड़े के पद चिन्हो से खोजते-खोजते राजा के सेवक सचिव सैनिक उस स्थान पर आ पहुँचे। राजा सभी आश्रम वासियों को प्रणाम करके उस भोजपत्र को साथ लेकर अपनी नगरी मे आये। वे बार-बार उस श्लोकार्ध को बाँचते

और मन मे परम प्रमुदित होते। घोड़े की सद्‌गति का स्मरण करके उनके नेत्र हर्ष से खिल उठते। अब उन्हे राज्य-पाट सुख वैभव कुछ भी अच्छा नही लगता था। अन्त मे वे अपने ज्येष्ठ पुत्र सिंहबल को राज्य देकर—उसे राज्य सिंहासन पर विधिवत अभिषिक्त करके मुनियो द्वारा सेवित उसी आश्रम मे आकर तपस्या करने लगे। वे निरन्तर पन्द्रहवें अध्याय का पाठ जप करते रहते। उसी के सम्बन्ध मे मुनियो से चर्चा करते। निरन्तर के जप से उनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया और उन्हे परमपद की प्राप्ति हुई। वे मोक्ष के अधिकारी बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने आप से भगवान् द्वारा कहा हुआ गीताजी के पन्द्रहवें अध्याय का महात्म्य सुनाया अब आगे आपको सोलहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा।"

छप्पय

सुनि आधो इश्लोक स्वरग कूँ अश्व सिधार्‌यो।
चकित नृपति मुनि निकट अश्व को पुन्य विचार्‌यो॥
पन्द्रहवें अध्याय महातम मुनिनि बतायो।
ऐसी महिमा सुनी नृपति मन अति हरषायो॥
राज्य पुत्र कूँ सौंपि कें, पन्द्रहवें को जप कर्‌यो।
ताके नित के पाठ तें, भूपति भव सागर तर्‌यो॥

गीता माहात्म्य

[१६]

गीताया षोडशोऽध्यायः तेन संपत् पृथक् कृतम् ।
अभयं सत्त्वसंशुद्धिःसिद्धिर्भवति पाठतः ॥*

(प्र० द० व०)

छप्पय

सोलवाँ अध्याय जपै जो गीता नित प्रति ।
होवै सब तैं अभय होहि सरवत्र तासु गति ॥
हाथी अति उनमत्त सबनि अति ई डरवावै ।
गीता जापक विप्र तासु ढिंग निरभय जावै ॥
खड्बाहु सौराष्ट्रपति, विस्मित है द्विज ढिंग गये ।
बहु सेवा सतकार करि, अभय हेतु पूछत भये ॥

जो स्वय किसी को उद्वेग नही पहुँचाता और सदा सर्वदा शुभ कार्यों मे सलग्न रहता है वह स्वय निर्भय हो जाता है। जैसे अपने भीतर के ही पाप रोग बनकर वाहर प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने ही भीतर का भय दूसरो से हमे भयभीत बना देता है। जिसने स्वय पाप नही किया है, जो सदा

---

* गीताजी का जो सोलहवाँ अध्याय है, जिसके द्वारा दैवी सपद् और आसुरी सम्पद् पृथक्-पृथक् बताई है। उसके पाठ से अभय और सत्त्व संसिद्धि की सिद्धि होती है।

शुभ कर्म करता है, वह मनुष्यों की तो बात ही क्या यमराज से भी नही डरता। मृत्यु उसे मार नही सकती, काल उसका कवल नही कर सकता। इस सम्बन्ध की महाभारत मे एक बड़ी ही सुन्दर शिक्षाप्रद कथा है।

महर्षि अरिष्टनेमि का एक बहुत ही शान्त ब्राह्मी सम्पत्ति से युक्त आश्रम था। उसमे रहकर वे सदाचार का पालन करते हुए, अपनी इन्द्रियो को तथा मन का वश मे करके तपस्या किया करते थे। उनका एक परम शान्त, दान्त सुशील स्वाध्याय निरत पुत्र था। वह ब्रह्मचर्य व्रत का भली भाँति पालन करते हुए गुरु, अग्नि अतिथि सेवा मे सदा सलग्न रहता। एक दिन वह मृग चर्म ओढकर आरण्य मे फल, पुष्प, समिधा तथा कुश लेने गया। वह पुष्प तथा फलो का झुक-कर चयन कर रहा था। उसी समय हैहय नरेश का एक पर-पुरञ्जय नाम का राजकुमार वन मे आखेट करने आया था। राजकुमार न वृक्षों की आड़ मे से देखा कोई मृग शनैः-शनैः टहल रहा है। वास्तव मे वह मृग नही था। मृग चम ओढे हुए ऋषि पुत्र ही पुष्प चयन कर रहा था। राजकुमार ने मृग समझकर उसके बाण मार दिया। मृतक मृग के शरीर को लेने के निमित्त जब राजकुमार उसके समीप पहुँचा, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। यह तो मेरे द्वारा महान् अनर्थ हो गया। मृग के भ्रम मे मैंने तो ऋषि पुत्र को मार दिया। मुझसे ब्रह्म हत्या हो गई।

राजकुमार परपुरञ्जय अपने द्वारा ब्रह्महत्या हुई मानकर परम दुखी हुए। वे बहुत ही पश्चात्ताप करते हुए अपनी राज-धानी मे पहुँचे और अपने पिता से सभी समाचार यथावत बता दिये। अपने पुत्र द्वारा ब्रह्महत्या हुई जानकर हैहय नरेश को

भी महान दुःख हुआ। उन्होने अपने पुत्र से कहा—"वन मे चल कर मुझे वह स्थान दिखा दो। जहाँ वह विप्रकुमार मारा गया। यह सुनकर राजकुमार राजा को उस स्थान पर ले गया। राजा ने देखा, एक युवक ऋषि कुमार का मृतक शरीर वहाँ पडा है।

राजा ने जब भली-भाँति समझ लिया कि विप्र पुत्र मर गया है, तब वे इस बात की खोज में चले कि यह ऋषि कुमार किनका पुत्र है इनके माता-पिता को तो सूचना दे देनी चाहिये। फिर चाहे वे हमे कैसा भी दारुण शाप दे दें।

राजकुमार सहित राजा खोजते-खोजते महर्षि अरिष्टनेमा के आश्रम मे पहुँचे। अपने आश्रम मे राजकुमार और राजा को आया देखकर महर्षि अरिष्टनेमा बड़े प्रसन्न हुए और उनका स्वागत सत्कार करते हुए कहने लगे—"राजन्! पधारो, आप का स्वागत है। आप हमारे सम्माननीय अतिथि हैं। शास्त्रो मे लिखा है, अपने यहाँ अपने से श्रेष्ठ अतिथि आवे तो उसे विशेष अर्घ्य प्रदान करना चाहिये। उसके अतिरिक्त राजा राजपुत्र, जामाता ये छोटे होने पर भी अर्घ्य के अधिकारी हैं। अतः आप मेरे द्वारा प्रदत्त अर्घ्य को ग्रहण करें।" यह कहकर मुनि ने अपने शिष्यो से गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा दुग्धादि अर्घ्य का समान लाने की आज्ञा दी।

महर्षि के बार-बार बैठने को कहने पर भी वे दोनो पिता पुत्र मुनि के दिये आसनो पर बैठे नहीं। वे सिर नीचा किये उदास भाव से हाथ जोड़े हुए खडे ही रहे और अत्यन्त ही विनीत वाणी में बोले—"ब्रह्मन्! हम आपके द्वारा सत्कार पाने के पात्र नहीं हैं।"

महर्षि ने कहा—"राजा और राजपुत्र सर्वथा सत्कार के पात्र होते हैं।"

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन् ! प्राचीन सदाचार तो ऐसा ही है, किन्तु हम अपनी पात्रता खो बैठे हैं। हमारे द्वारा ब्रह्म हत्या हुई है। इस कारण हम ब्रह्म हत्यारे हैं।"

ऋषि ने पूछा—"तुम लोग तो धर्मात्मा हो, तुम्हारे द्वारा यह घोर पाप कैसे हुआ।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! भूल मे भ्रमःद्वारा ऐसा महापाप हो गया। मेरा यह पुत्र वन मे आखेट के निमित्त आया था। एक ऋषि पुत्र मृग चर्म ओढे झुककर फल पुष्प चुन रहा था, मेरे पुत्र ने उसे मृग समझा। वृक्षो की ओट मे पूरा शरीर तो दीखा नही। भ्रम वश उसने बाण चला दिया। समीप मे जाकर देखा, तो वह ऋषि का मृतक शरीर था, अब हम यही पता लगाते फिरते हैं, कि वे ऋषिकुमार किनके पुत्र थे। पता लग जाय, तो हम उनके माता-पिता से क्षमा याचना करें और उन्हे सूचना दे दें। वे जो भी शाप दें उसे अङ्गीकार करें।"

महर्षि ने कहा—"अच्छा, उस ऋषि पुत्र के मृतक शरीर को यहाँ ले आओ।"

वे दोनो उस शरीर को लेने गये। किन्तु वहाँ वह मृतक शरीर था ही नही। अब तो उन्हें और भी भारी पश्चात्ताप हुआ। अपनी असावधानी से वे लज्जित हुए।

तत् पश्चात् वे दोनो पुन महर्षि के समीप आये और अपनी असावधानी के कारण वे और भी अधिक दुखित तथा लज्जित हुए। ऋषि ने जब उन्हें बहुत दुखित देखा, तब उन्होने कुटिया मे बैठे अपने पुत्र को बुलाया। पिता के बुलाने पर हाथ जोड़े हुए पुत्र, महर्षि के सम्मुख आकर खडा हो गया। तब महर्षि ने राजकुमार से पूछा—"राजकुमार ! क्या तुम इसे पहिचानते हो ? इसी को तुमने मारा था न ?"

राजकुमार ने कहा—"हाँ, भगवन् ! ये ही थे । इन्हीं को मैंने भ्रमवश अपने बाण का लक्ष्य बनाकर मार डाला था । किन्तु ये जीवित कैसे हो गये ? यह आपकी तपस्या का प्रभाव है अथवा इन्हीं में कोई अलौकिक शक्ति है ?"

जब राजा तथा राजपुत्र को परम विस्मित देखा तब ऋषि कहने लगे—'देखो, हमने अभय मन्त्र की दीक्षा ले रखी है । हम कभी किसी से भय नहीं खाते । मनुष्यों की तो बात ही क्या हम मृत्यु से भी नहीं डरते ।"

राजा ने पूछा—"आप सबसे अभय क्यों रहते हैं । आपकी इस इतनी बड़ी निर्भयता का कारण क्या है ?'

महर्षि ने कहा—'राजन् ! भय तो पाप से होता है । हम पाप से सदा दूर रहते हैं । मृत्यु से भी हम क्यों नहीं डरते इसमें इतने कारण हैं—

छप्पय

(१)

बोलें नहीं असत्य सत्य ही नित प्रति भाखे ।
धरम आचरन करें दया नित हिय में राखे ॥
विप्र और विद्वान बड़े जो हमतें ज्ञानी ।
गुन ही तिनिके प्रकट करें जो सतत अमानी ॥
नहिं तिनिके अवगुन लखें, शुद्ध आचरन नित करें ।
निज करतव पालन करें, फेरि मृत्यु तें क्यौं डरें ॥

(२)

जो भोजन के समय अतिथि अभ्यागत आवें ।
तिनिकूँ श्रद्धा सहित प्रथम ही बैठि जिमावें ॥

निज आश्रित नर नारि भरन पोषन करि तिनिको।
पहिले तिनकूँ तृप्त करें आदर अति उनको॥
शान्त जितेन्द्रिय नित रहै, छिमा रिपुनि हू कूँ करें।
शील वृत्ति धारन करें, फेरि मृत्यु तें क्यों डरें॥

(३)

तीरथ यात्रा करें शक्ति भरि दान धरम करि।
जो अति पावन देश गङ्गतट बसहिं ध्यान धरि॥
जो निरवल खल अधम भूलि तिनि संग करें नहिं।
तेजस्वी सतपुरुष तिनहिं सँग रहैं कष्ट सहि॥
धरम ग्रन्थ स्वाधाय करि, पाठ मन्त्र जप नित करें।
प्रभु के शरणागत रहै, फेरि मृत्यु तें क्यों डरें॥

राजन् ! इन्हीं कारणों से हमें मृत्यु मारने में समर्थ नहीं। इसीसे हम सदा सर्वदा सबसे निर्भय बने रहते हैं।

महर्षि की बात सुनकर हैहय नृपति परम विस्मित हुए उन्होंने महर्षि का आतिथ्य ग्रहण किया और ऋषि द्वारा आश्वासन पाकर उनसे आज्ञा लेकर अपनी राजधानी को चले गये। जिनके हृदय में दैवी सम्पत्ति है वे किसी से भी नहीं डरते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब मैं आपको सोलहवें अध्याय के उस माहात्म्य को सुनाऊँगा जिसे भगवान् शिव ने पार्वती जी को और भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी को सुनाया था।"

भगवान् विष्णु ने कहा—"प्रिये ! अब तुम श्रीमद्भगवत् गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य श्रवण करो। गुर्जर प्रदेश में सौराष्ट्र नाम की एक नगरी थी, उसमें द्वितीय इन्द्र के सदृश परम प्रतापी खड्बाहु नाम के राजा राज्य करते थे। वे शूरवीर कृतज्ञ तथा परम वैभव शाली थे। उनके रथ वाली

हाथियो की, घोडों की तथा पैदलो की चतुरङ्गिनी सेना थी। महाराज को हाथी बहुत प्रिय थे। वे सुन्दर-सुन्दर हाथी रखते थे। उन हाथियो मे से एक हाथी परम पराक्रमी था, वह युवावस्था सम्पन्न जब हुआ तब उसके गडस्थलो से निरन्तर मद चूता रहता था। महाराज ने उसका नाम 'अरिमर्दन' रख रखा था। किसी समय वह अत्यन्त ही मदोन्मत्त हो गया। हस्तिप उसे चारो ओर से बडी-बडी जञ्जीरो मे बाँधकर रखते किन्तु वह जञ्जीरो को योही तोड डालता। वह अपने रहने के स्थान को अपने मस्तक से योही तोड डालता। एक दिन वह साकलो को तोडकर, दरवाजे को चकनाचूर करके अपने स्थान से निकल भागा। हस्तिपगण दूसरे हाथियो पर चढ़कर उसके ऊपर भालो की वर्षा कर रहे थे, किन्तु वह निर्भय होकर भागा जा रहा था, किसी का साहस ही न होता था, कि उसके सम्मुख जायँ।

सेवको ने महाराज को सूचना दी। वह अरिमर्दन हाथी राजा को अत्यत ही प्रिय था, राजा स्वय हाथियो को वश मे करने की विद्या मे निपुण थे अत. वे राजपुत्रो के सहित वहाँ आये। हाथी ऐसा उन्मत्त हो रहा था, कि बडे-बडे कुशल हस्तिप भी उसके सम्मुख जाने का साहस नही कर रहे थे। राजा ने हाथी को बहुत पुचकारा, भाँति-भाँति से उसकी उनुहार की, उसे मनाया, किन्तु हाथी ने राजा की ओर ध्यान ही नही दिया।

नगर निवासी स्त्री पुरुष सब काम छोडकर दूर खडे हाथी की उन्मत्तता को देख रहे थे। मातायें अपने बच्चो को हाथी के समीप जाने के लिये मना कर रही थीं। सभी भयभीत हो रहे थे। उसी समय एक ब्राह्मण सरोवर से स्नान करके उसी मार्ग से लौटकर अपने घर जा रहा था।

लोगो ने चिल्लाकर कहा—"पडितजी! पडितजी! उधर नही

जाइयेगा, उधर एक मदोन्मत्त हाथी छूट गया है, वह बड़ा अनर्थ कर रहा है।"

ब्राह्मण देवता गीता के सोलहवें अध्याय का निरंतर पाठ करते रहते थे। उस समय भी वे "अभय सत्त्व संशुद्धिः" इन्हीं मंत्रों का पाठ कर रहे थे। लोगों के अत्यधिक मना करने पर भी वे उनकी बातों को अनसुनी करके उसी मार्ग से हाथी के समीप हो होकर निकले। राजा आश्चर्यचकित होकर ब्राह्मण की निर्भयता को देख रहे थे। ब्राह्मण निर्भय होकर हाथी के समीप खड़े हो गये; उन्होंने अपने हाथ से हाथी को उसके चूते हुए मद को छुआ। हाथी कुछ भी नहीं बोला वह कुत्ते के बच्चे की भाँति चुपचाप सिर नीचा किये हुए खड़ा रहा। ब्राह्मण उसे छूकर पाठ करते हुए निर्भय होकर आगे बढ़ गये।

राजा पर ब्राह्मण के इस अलौकिक कार्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। वे चकित-चकित दृष्टि से अपनी आँखों को फाड़-फाड़कर ब्राह्मण को देख रहे थे। उन्होंने एक सेवक द्वारा बड़े सत्कार से ब्राह्मण को अपने समीप बुलाया। और स्वयं वाहन से उतर कर श्रद्धा भक्ति पूर्वक ब्राह्मण के समीप गये। उन्हें प्रणाम करके राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आप ऐसा कौन-सा मंत्र, तन्त्र, जादू टोना जानते हैं जो निर्भय होकर मदोन्मत्त हाथी के सम्मुख चले गये और हाथी ने भी आपको कुछ भी क्षति नहीं पहुँचायी, वह भीगी बिल्ली की भाँति चुपचाप खड़ा रहा।"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—"राजन्! मैं मन्त्र, तंत्र, जादू टोना तथा वशीकरण आदि कुछ नहीं जानता। मैं तो नित्य नियम से निरन्तर श्रीमद्भगवत् गीता के सोलहवें अध्याय का पाठ करता रहता हूँ, उसी पाठ के कारण मुझे निर्भयता की सिद्धि-प्राप्त हो

गयी है। मैं न तो किसी को भय पहुँचाता हूँ और न स्वयं ही किसी से भयभीत होता हूँ।"

ब्राह्मण की बात सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हाथी का कौतूहल छोड़कर ब्राह्मण को साथ लेकर अपने महल में चले आये। उन्होने ब्राह्मण से प्रार्थना की—"ब्रह्मन्! मुझे भी कृपा करके श्रीमद्‌भगवत् गीता के सोलहवे अध्याय की दीक्षा दीजिये।"

राजा की प्रार्थना पर ब्राह्मण ने राजा को विधिवत् सोलहवें अध्याय की दीक्षा दी। उसका अर्थ समझाया। राजा ने श्रद्धा भक्ति सहित ब्राह्मण की शिक्षा को धारण किया। एक लक्ष्य सुवर्ण मुद्रा उन्होने दक्षिणा स्वरूप भेंट करके ब्राह्मण को सन्तुष्ट किया। और निरन्तर गीता के श्लोको का पाठ करने लगे। पाठ करते-करते उन्हे स्वय ही अभयता की सिद्धि प्राप्त हो गयी।

एक दिन उन्होंने कुतूहलवश हस्तियो को बुलाकर कहा—"आज उस अरिमर्दन मदोन्मत्त हाथी को बाहर निकालो, मैं उसका स्पर्श करूँगा।" हस्तियों ने राजा को ऐसा करने से रोका किन्तु वे माने ही नही। राजा की आज्ञा से हाथी छोड़ा गया। राजा निर्भय होकर उसके समीप गये वहाँ जाकर राजा ने उसे पुचकारा उसके गडस्थल का उसके चूते हुए मद का स्पर्श किया, किन्तु हाथी कुछ भी नहीं बोला।

इस प्रकार अभय मत्र से ही दीक्षित राजा हाथी को निर्भय होकर छूकर उसी प्रकार लौट आये जैसे पुण्यात्मा पुरुष मृत्यु के के मुख से छूट आते हैं और साधु पुरुष खल के चक्कर से छूटकर लौट आते हैं। राजा की इस निर्भयता का समस्त प्रजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा, वे सब राजा को साधुवाद देने लगे, उनकी निर्भयता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

निरन्तर के सोलहवें अध्याय के पाठ से राजा को विषय भोग, ऐश्वर्य सुख तथा राज-पाठ से विराग हो गया। वे अपने बड़े राजकुमार को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त करके स्वयं निरन्तर गीताजी के सोलहवें अध्याय का पाठ करते हुए परम गति को प्राप्त हुए।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आप से भगवान् विष्णु तथा शिवजी के मुख से कहा हुआ गीताजी के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया। अब आप सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य आगे सुनेंगे।"

छप्पय

कहें विप्र—"हौं पाठ करूँ दैवासुर संपद।
सोलहवों अध्याय कह्यो गीता को सुखप्रद॥
राजा दीन्हा लयौ स्वयं हाथी ढिँग आये।
अभय भये करि पाठ, सबनि के हिय हरषाये॥
राज पुत्र कूँ सौंपिकें, सतत पाठ में लगि गये।
अभय भये सब ओर तैं, नृप मुक्त जगत तैं भये॥

आसुरी सम्पदा के लक्षण

[४]

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥*
(श्री भा० गी० १६ अ० ४, श्लो०)

छप्पय

पारथ ! अब हौं कहूँ आसुरी सम्पति तोतैं ।
तिनकूँ तू लै समुझि यथाविधि लक्षन मोतैं ॥
जो हैं जैसे नहीं दम्भ करि श्रेष्ठ जतावैं ।
करैं दरप अभिमान क्रोध करि परुष सुनावैं ॥
अति कठोरता करहिँ नित, अज्ञानहु डूबे रहत ।
पैदा जे जन आसुरी, सम्पद में नित ई निरत ॥

यह संसार द्वन्द्व-जोड़े-के कारण चल रहा है। द्वन्द्व न होतो संसार की स्थिति न रहे। सुख दुख, पाप पुण्य, जय पराजय, लाभ हानि, जीवन मरण, यश अपयश आदि-आदि जितने भी द्वन्द्व हैं सब सापेक्ष हैं। एक दूसरे से जुटे हुए हैं। जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। जन्म के साथ ही साथ मृत्यु पैदा

---

* हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर वचन और अज्ञान ये आसुरी सम्पदा में प्राप्त हुए पुरुषों को होते हैं ॥४॥

होती है। एक भद्र पुरुष किसी समारोह मे मिले। पहिले भद्र पुरुष ने शिष्टाचार के नाते दूसरे से पूछा—'कहो जी, क्या हाल चाल है, अच्छे तो हो ?"

दूसरे भद्र पुरुष ने उत्तर दिया—"शनै शनै मर रहा हूँ। मृत्यु की ओर बढ रहा हूँ।"

पहिले ने घबराकर पूछा—"क्यो क्या बात है, कोई बीमारी हो गयी क्या ?"

दूसरे ने कहा—"मृत्यु की बीमारी तो उसी दिन पैदा हो गयी, जिस दिन मैं जन्मा था। जिस दिन से जन्म लिया है, उसी दिन से मृत्यु की ओर बढ रहा हूँ।"

बात यह है, कि द्वन्द्व साथ ही साथ रहते हैं। पता नहीं किसका पलडा कब भारी पड जाय। इसी प्रकार धर्म और अधर्म ये भी द्वन्द्व हैं, परस्पर मे सापेक्ष हैं। धर्म ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई है, अधर्म कनिष्ट और निकृष्ट भाई है। धर्म भगवान् के हृदय से उत्पन्न हुआ है अधर्म पृष्ठ भाग से। धर्म बडा है इसलिये इसकी तेरह पत्नियाँ हैं और बहुत बडा परिवार है। धर्म की तेरह पत्नियो के नाम श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति हैं। इनमे से श्रद्धा का सुत शुभ, मैत्री का प्रसाद, दया का अभय, शान्ति का सुख, तुष्टि का मोद, पुष्टि का अहकार, क्रिया का योग, उन्नति का दर्प, बुद्धि का अर्थ, मेधा का पुत्र स्मृति, तितिक्षा का क्षेम, ह्री (लज्जा) का प्रश्रय (विनय) और मूर्ति के पुत्र नर तथा नारायण हुए यह तो धर्म का परिवार है, धर्म के परिवार का ही सक्षिप्त नाम दैवी सम्पदा है। सत्ययुग मे धर्म चार पाद से रहता है। त्रेता मे तीनी पाद धर्म एक पाद अधर्म, द्वापर मे दो पाद धर्म दो पाद अधर्म, कलियुग मे ३ पाद अधर्म और एक पाद धर्म। इस हिसाब से

चारो युगो मे धर्म १० भाग रहता है और अधर्म ६ भाग रहता है। १६ आने मे १० आने धर्म रहता है ६ आने अधर्म। छोटा और खोटा होने से इसकी पत्नी भी एक है और अधर्म होने से ये सगे भाई बहिन ही परस्पर मे विवाह कर लेते है। अधर्म भी धर्म की भाँति भगवान् ब्रह्मा का ही पुत्र है। उसकी एक ही स्त्री है उसका नाम है मृषा (असत्य) इन दोनो से दम्भ और माया नाम से एक पुत्र और एक पुत्री हुए। इन दोनो ने परस्पर मे विवाह कर लिया। उनसे भी लाभ नाम का पुत्र और निकृति (शठता) कन्या दो सन्तानें हुई। इन्होने भी आपस मे विवाह कर लिया उनसे क्रोध और हिंसा दो सन्तानें हुई। वे ही वहू दुल्हा बन गये। उनसे कलि (झगड़ा) और दुरुक्ति (गाली) ये दो हुए। इन्होने भी विवाह करके भय नामक पुत्र और मृत्यु पुत्री पैदा की। फिर इन दोनो से यातना और नरक ये हुए। यह अधर्म की सतानें हैं। इसी परिवार का सक्षिप्त सस्करण असुरी सम्पद् है। इस धर्म और अधर्म के परिवार का वर्णन इसलिये कर दिया कि दैवसम्पदा और आसुरी सम्पदा मे पूरे परिवार का तो वर्णन है नही। इन दोनो कुलो के जो मुख्य-मुख्य व्यक्ति हैं उन्ही का उल्लेख है। अतः पाठको को इनकी वशावली जानने मे असुविधा न हो अतः इनकी वशपरम्परा का–इनकी पूरी पीढियो का–परिचय करा दिया। अब अधर्म का जो संक्षिप्त सस्कार असुरी सम्पद् है उसका विवरण सुनिये।

आसुरी सम्पदा के बहुत प्रसिद्ध पुरुष हैं दम्भ। ये देवताजी बडे बलवान है इनका प्रवेश सर्वत्र है। मठो मे मन्दिरो में, सुधारको में धर्माचार्यो में, राजद्वार में, वेश्याओ मे यहाँ तक कि ब्रह्मलोक तक मे इन दम्भराज का प्रवेश है। मान के लिये, बडाई के लिये, पूजा प्रतिष्ठा के लिये, धन पैदा करने को ये त्रिविध

रूप रख लेते हैं। जो पढ़ा लिखा नहीं है इन दम्भदेव की कृपा से वह पंडित विख्यात हो जाता है। जो अधर्म की मूर्ति हैं इन दम्भदेव की कृपा से धर्म की ध्वजा फहराते हुए धर्म ध्वजी बन जाते हैं। जो महापतित व्यभिचारी हैं वे इन दम्भ देवता की कृपा से आचार्य बनकर सुवर्ण सिंहासनों को सुशोभित करने लगते हैं। कुट्टिनी व्यभिचारिणी, सती साध्वी अभिनेतृ बनकर जनता को उपदेश करने लगती है। दम्भी लोगों का कलियुग में तो साम्राज्य ही हो जाता है। बड़े बड़े ऊँचे आसनों पर पाखंडी दुराचारी पापाचारी बैठकर इन दम्भदेव की सहायता से शिष्य समूह एकत्रित कर लेते हैं कुछ दलाल लोगों को फंसा फंसाकर उन धर्म ध्वजियों से कान फुंकाते हैं अपना उल्लू सीधा करते हैं। उन्हें ठगने के लिये भाँति भाँति के ढोंग रचते हैं, कहीं वृक्षारोपण के नाम से, कहीं गृहदान धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला के नाम से उनसे ठगते हैं। बड़ी बड़ी सभायें करते हैं। उनमें दान का वे धर्मध्वजी महत्त्व बताते हैं। श्रोताओं में उनके छिपे हुए दलाल बैठे रहते हैं। दान धर्म का महत्त्व बताकर फिर वे धर्मध्वजी आचार्य दान देने की घोषणा करते हैं। उनके धनिक वेष में छिपे हुए दलाल सर्वप्रथम उठकर भारी रकम की घोषणा कर देते हैं। उनकी देखा देखी अन्य धनिक भी दान देने लगते हैं। इस दम्भदेव की कृपा से उनका व्यापार चलने लगता है।

दम्भदेव वेष बनाना इतना सुंदर जानते हैं, कि अच्छे अच्छे इनके चक्कर में फंस जाते हैं। दम्भदेव के सम्बन्ध की एक बहुत ही प्रसिद्ध पौराणिक कथा है।

ये दम्भदेव अधर्मजी के सुपुत्र हैं अधर्म–ब्रह्मा के पुत्र हैं अतः ब्रह्माजी इनके बाबा हुए। यद्यपि ये गृहस्थी हैं–इन्होंने अपनी सगी बहिन माया से विवाह कर लिया है। इनके–एक नहीं दो–

दो पिता हैं। अधर्म के तो ये औरस पुत्र है नि:सन्ता निर्ऋति (लोकपाल नैऋत दिशा के) ने इन्हे गोद ले रखा है। इनके लोभ और निकृति (शठता) दो सन्तानें भी हैं। किन्तु फिर भी ये ब्रह्मचारी बने रहते हैं। वेप ऐसा बढिया बनाते हैं, कि ब्रह्मा बाबा को भी चक्कर मे डाल देते हैं।

एक दिन इन्होने अपनी बडी-बडी ऐडी तक लम्बी जटाओ में भस्म लगाई। माथे पर भस्मी का त्रिपुंड धारण किया। गले मे बडे-बड़े रुद्राक्षो की माला, हाथ मे कुशाओ का ब्रह्मदड, उँगलियो मे कुशाओ की पवित्री। सिर पर कानों में, बाजुओ मे, यज्ञोपवीत के स्थान में रुद्राक्ष धारण किये, काले मृग चर्म को ओढा एक मृग चर्म को मूँज की मेखला और लँगोटी के ऊपर लपेटा, खडाऊँ पहिनकर, ओठो को हिलाते हुए, एक हाथ मे जल भरा कमडलु थामे दड कमंडलु लिये ब्रह्माजी को सभा की ओर चल दिये।

इनकी गति तो सर्वत्र है, कही भी इनकी रोक टोक नहीं। ये चलते-चलते ब्रह्माजी की सभा मे पहुँच गये। ब्रह्माजी की सभा लगी हुई थी, उसमे बड़े-बड ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, देवता, यक्ष, गन्धर्व, गुह्यक, नाग, नदी, वृक्ष, पर्वत आदि के अधिष्ठातृ देव बैठे हुए थे। सभा खचाखच भरी हुई थी। ये दम्भदेव ब्रह्मचारी खडाऊंओ को खटखटाते हुए ब्रह्माजी की सभा मे पहुँचे। सभी ऋषि महर्षि इनका ऐसा अद्भुत रूप देखकर भौचक्के हो गये। सभी इन्हे कोई महर्षि समझकर उठकर खडे हो गये। इन्होने हाथ उठाकर सबको आशीर्वाद दिया। ब्रह्माजी की आज्ञा से और सब तो अपने-अपने आसनो पर बठ गये, किन्तु ये दम्भदेव खड़े ही रह गये।

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, तुम भी बैठ जाओ।"

आप गरजकर बोले—"बाबा मैं कहाँ बैठूं ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया ! इतने आसन खाली पड़े हैं, उनमे से किसी पर बैठ जाओ।"

तब आप बोले—"बाबा मैं पवित्र पुरुष हूँ, किसी के बैठे हुए अपवित्र आसन पर नहीं बठता।"

कहावत है, मूल से प्यारी ब्याज होती है, पुत्र से प्यारा पौत्र होता है। ब्रह्माजी ने कहा—'अच्छा आसनो पर नही बैठते, तो आओ मेरी गोदी मे बैठ जाओ।"

यह सुनकर दम्भदेव ने झोली मे से कुशा निकाली कुशाओं को कमण्डलु के जल मे डुबोकर ब्रह्माजी की गोद को छिड़कते हुए मन्त्र पढ़ने लगे—'अपवित्रः पवित्रोवा"

यह देखकर ब्रह्माजी हँस पडे और बोले—"वाह बेटा ! बहुत दिनो तक जियो ! कलियुग मे तुम्हारा बोल बाला हो। जो गोद त्रैलोक्य को पावन करने वाली है, उस गोद को भी तुम पवित्र कर रहे हो। इससे बढकर और दम्भ क्या होगा ?"

जब ऋषि महर्षियों को पता चला कि यह तो तपस्वा का वेप बनाये दम्भ है तो वे सबके सब खिलखिला कर हँस पडे और बोले—'तुम तो भैया अपने बाप अधर्म से भी बढकर हुए। इसलिये अधर्म के पुत्र दम्भजी आसुरी सम्पद के पहिले गुण या दुगुण हैं।

आसुरा सम्पद का दूसरा लक्षण है—"दर्प। दर्प कहो स्तम्भ कहो, घमन्ड कहो सब एक ही बात है, अच्छे कुल का दर्प, अच्छे कम करने का दर्प, युवावस्था का दर्प, सुन्दर रूप का दर्प, विद्या का दर्प, ऐश्वर्य का दर्प तथा धन सम्पत्ति अधिकारादि का दर्प इन दर्पों के कारण मनुष्य अन्य पुरुषो को तुच्छ समझने लगता है।"

अच्छे कुल मे उत्पन्न होने वाला चाहे साधारण ज्ञानी ही क्यों न हो, सत्कुल मे उत्पन्न होने के कारण वह अपने से छोटे कुल में उत्पन्न होने वालो को हेय ही समझता है, फिर वे चाहे इससे कितने भा बड़े ज्ञानी क्यो न हो। परमार्थ पथ मे ऐसा दर्प बडा भारी विघ्न है। इसी दर्प को मिटाने के लिये भगवान् वेद व्यास ने अपने जन्मजात महाज्ञानी पुत्र शुकदेवजी को अपने क्षत्रिय शिष्य महाराज जनक के यहाँ ज्ञानोपदेश लेने के लिये जनकपुर भेजा था।

पिता की आज्ञा मे वे जनकपुर गये। द्वारपालो ने उन्हे भीतर नही जाने दिया। वे द्वार पर ही बिना खाये-पीये खड़े रहे। तनिक भी न उन्होने क्रोध किया न अपना अपमान ही समझा। इसी प्रकार कई स्थानो मे कई दिनो तक रोकने के अनन्तर कई प्रकार की परीक्षायें लेने के अनन्तर महाराज जनक ने उनसे साक्षात्कार किया। उनका आदर किया, उच्च सिंहासन पर बिठाया और कहा—'आप मे सब गुण है। आप दर्प रहित हैं। आप में इतनी ही त्रुटि है कि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी आप अपने को ज्ञानी नही समझते।"

शुभ कर्मों का भी बडा भारा अभिमान होता है महाभारत मे एक ब्राह्मण कुमार की कथा आती है, जो अपने माता-पिता की सेवा छोडकर तपस्या करने चला गया। तपस्या करते-करते उसका इतना प्रभाव बढ गया कि पेड पर उपद्रव करते पक्षी उसके क्रोध से देखने पर मर कर गिर पडे। उसे बडा अभिमान—दर्प—हो गया। जिसे एक पतिव्रता ने एक मास विक्रेता धर्म व्याध ने शान्त करके उसे उपदेश दिया।

अवस्था का भी बडा दर्प होता है, अवस्था के दर्प के ही कारण वृषवर्पा की पुत्री शर्मिष्ठा ने अपने पुरोहित शुक्राचार्य

की पुत्री को कूए मे ढकेल दिया था और फिर यह विवाद बढता ही गया।

रूप के अभिमान के कारण ससार मे कैसे-कैसे अनर्थ हुए हैं। सौन्दर्य का दर्प ऐसा दर्प है कि इसके कारण सौतो मे परस्पर कलह हुई हैं। कैकेयी को अपने सौन्दर्य का गर्व था—ध्रुव की विमाता सुरुचि के सौन्दर्य के दर्प के ही कारण ध्रुवजी को वन मे जाना पडा।

विद्या के दर्प के ही कारण एक विद्वान् दूसरे विद्वान को शास्त्रार्थ मे ललकारते हैं और परस्पर मे न कहने योग्य बातें कहते हैं। इसके अनेको उदाहरण हैं।

ऐश्वर्य का दर्प तो सबसे अधिक होता है। महाभारत में एक कथा है, कि कुरुवशी महाराज सुहोत्र महर्षियो से मिलकर लौट रहे थे। मार्ग मे उन्हे उशीनर के पुत्र महाराज शिवि रथ पर सामने से मिल गये। मार्ग मे दोनो अपने को श्रेष्ठ समझकर खड़े हो गये। ये समझते थे मैं श्रेष्ठ हूँ अत. शिवि को मुझे मार्ग देना चाहिये। महाराज शिवि समझते थे मैं श्रेष्ट हूँ सुहोत्र को मुझे मार्ग देना चाहिये।

दोनो अपने-अपने ऐश्वर्य के दर्प के कारण एक दूसरे का मार्ग रोके खडे थे। इतने मे ही वहाँ दैवयोग से देवर्षि नारदजी आ गये।

नारदजी ने पूछा—"भाई तुम दोनो राजा एक दूसरे का मार्ग रोके क्यो खड़े हो।" दोनो ने कहा—"हम श्रेष्ठ है, हमारे लिये इन्हें मार्ग देना चाहिये।"

इस पर नारदजी ने महाराज सुहोत्र से कहा—"राजन्! जब निष्ठुर स्वभाव वाले के साथ कोमल स्वभाव वाले की और असज्जन के साथ सज्जन की मैत्री होती हुई देखी जाती है, तब

एक सज्जन के साथ दूसरे सज्जन का सुहृद्भाव क्यों न हो? अतः अपने प्रति जो व्यवहार किया गया हो, उससे सौगुना अच्छा व्यवहार अपने साथी के साथ करना चाहिये। देवता तक यह निर्णय नहीं कर सकते, कि सदाचार क्या है। मैं निर्णय देता हूँ, कि महाराज शिवि चरित्र में तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। हे सुहोत्र! साधु वही है, जो कुछ देकर दुष्ट को, सत्य बोलकर असत्य भाषण करने वाले को, क्षमा के द्वारा निष्ठुर को और सद् व्यवहार द्वारा असज्जन को अपने वश मे कर लेता है। राजन्! आप दोनो धर्मात्मा हो, ऐश्वर्यशाली हो, उदार हो, तथापि जो वास्तव मे सच्चा उदार होगा वह अपना दर्प छोड़कर दूसरे को मार्ग दे देगा। इस समय इसी व्यवहार से श्रेष्ठता तथा उदारता की परीक्षा हो जायगी।"

नारदजी के ऐसा कहने पर महाराज सुहोत्र ने अपना हठ छोड दिया। उन्होने महाराज शिवि का सम्मान किया, उनकी परिक्रमा की और उनको प्रणाम करके उनके लिये मार्ग छोड़ दिया। वास्तव में सम्माननीय वही है, जो दूसरों को सम्मान देता है। क्योकि गृहीता की अपेक्षा दाता श्रेष्ठ कहा गया है।

धन आदि का दर्प तो दुर्योधन का प्रसिद्ध ही है। दर्प के ही कारण उसने भीष्म, द्रोण, विदुर अपने पिता धृतराष्ट्र तथा स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान् की सीख नहीं मानी, पाडवों का राज्य नहीं लौटाया इसीलिये सम्पूर्ण कुल सहित मारा गया। यही दशा रावण की हुई। दर्प के ही कारण वह सीताजी को हर ले गया। फिर सबने समझाया, संधि करलो, सीताजी को लौटा दो, उसने नहीं माना अपने दर्प के ही कारण कुल सहित मारा गया।

आसुरी सम्पदा का तीसरा लक्षण है—"अति मान या अभि-

म्मान। जब मनुष्य अपने को ही सब कुछ समझने लगता है और सभी को तुच्छ समझकर उनका अपमान करने लगता है, तो समझना चाहिये इसकी वृत्ति आसुरी हो गयी है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण देवता और असुर ही हैं।

वैसे देवता और असुर सगे भाई-भाई ही हैं। एक ही प्रजापति भगवान् कश्यप के पुत्र हैं। पिता दोनों के एक हैं, केवल माताय दिति और अदिति पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु असुर अतिमान या अभिमान के कारण अपने को ही श्रेष्ठ समझने लगे। देवता अपने को भगवान् के अधीन मानने लगे। भगवान् के शरणागत होने के कारण देवताओं की विजय हुई, उन्हे पीने को अमृत मिला। अतिमान के कारण असुरो ने क्लेश भी सहे परिश्रम भी किया फिर भी उन्हे पीने को अमृत नही मिला और उन्हे पराभव को भी प्राप्त होना पडा। इसलिये कभी अत्यत मान या अभिमान न करना चाहिये। अभिमान पराभव को देने वाला होता है।

दैवी सम्पदा का चौथा लक्षण है—"क्रोध" क्रोध कहते हैं अन्त करण की जलने वाली वृत्ति को। क्रोध जब हृदय मे आता है तब चेहरा विकृत हो जाता है, आखें लाल हो जाती हैं, ओठ फरकने लगते हैं, शरीर काँपने लगता है। अन्त करण मे एक प्रकार का सम्मोह हो जाता है, स्मृति प्राय नष्ट हो जाती है, मुख मे जो भी अट-सट आता है उसे ही बकने लगता है। हाथ मे जो भी पड जाता है उसी से प्रहार करने लगता है। अपने पराये का विवेक नही रह जाता। क्रोध उस अग्नि के सदृश होता है, जो पहिले-पहिल जहाँ लगती है, उसे जलाकर आगे बढती है।

क्रोध मे एक और विशेषता है, क्रोध-क्रोध से बढ़ता है, क्रोध करने वाले के सम्मुख कोई दूसरा क्रोध करने वाला न हो तो यह

अपने आप शांत हो जाता है इस विषय में एक पौराणिक कथा बहुत प्रसिद्ध है।

एक बार श्रीकृष्ण, बलदेवजी, सात्यकी तीनों कहीं जा रहे थे। जाते-जाते मार्ग मे उन्हें एक सघन वन मिला। वहाँ सूर्यास्त हो चुका था। आस पास कोई ग्राम नहीं था। आगे का मार्ग निरापद नहीं था। अत: तीनो ने निश्चय किया कि रात्रि इसी वन में किसी सघन वृक्ष के नीचे बितायी जाय।"

निश्चय के अनुसार तीनो एक सघन वट वृक्ष की छाया में पहुँचे। वन बड़ा ही भयंकर था। भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस तथा हिंस्र पशुओं का भय था। निश्चय यह हुआ कि रात्रि के तीन प्रहरों मे दो-दो आदमी तो सो लिया करें। बारी-बारी से तीनों एक-एक प्रहर जागकर पहिरा दें। इस निश्चयानुसार श्रीकृष्ण-चन्द्रजी और बलरामजी तो सो गये। सात्यकी जी जागकर पहरा देते रहे।

जब राम और कृष्ण भली प्रकार सो गये तब एक भयंकर राक्षस आया। उसने सात्यकी जी से कहा—"देखो, भाई ये जो दोनो सो रहे हैं, इनको मैं खा जाऊँगा, तुम्हे छोड दूँगा, तुम मुझे इनको खा लेने दो।"

सात्यकी जी ने कहा—"दुष्ट! तू हममें फूट डालना चाहता है, या पहिले मुझसे तो लड ले। यह कह कर सात्यकी जी क्रोध करके उससे लड़ने लगे। ये दाँत किटिकिटा कर जितना ही उस पर प्रहार करते, वह राक्षस उतना ही बढ़ता जाता। एक प्रहर तक घनघोर युद्ध हुआ। एक प्रहर के पश्चात् वह राक्षस चला गया। सात्यकी जी ने देखा, बलरामजी उठकर पहरा देने के लिये तैयार हैं। सात्यकीजी बिना कुछ बताये चुपचाप जाकर सो गये। जब सात्यकी भी सो गये, तब वह राक्षस पुनः आया।

उसने बलदेव जी के सम्मुख भी यही प्रस्ताव रखा। भला बलदेव जी इस प्रस्ताव को कब मानने वाले थे, उन्होंने अपना हल मूसल सम्हाला और क्रोध मे भरकर उससे युद्ध करने लगे। बलदेवजी क्रोध करके जितना ही उस पर प्रहार करते वह उतना ही बढता जाता। एक प्रहर तक दोनो का घनघोर युद्ध हुआ। एक प्रहर पश्चात् राक्षस चला गया। तब श्रीकृष्ण उठकर बैठ गये। बलदेवजी ने सोचा—'राक्षस तो चला ही गया है, व्यर्थ मे श्रीकृष्ण को क्यो बतावें, अतः वे भगवान् को बिना कुछ बताये चुप चाप जाकर सो गये।

उनके सो जाने के पश्चात् वह राक्षस पुनः श्रीकृष्ण के समीप आया और बोला—"इन दोनो को मुझे खा लेने दो, तुमको मैं छोड दूँगा।"

यह सुनकर श्रीकृष्ण खिला खिलाकर हँस पडे और बोले—"राक्षसराज! भला यह भी संभव है क्या? मैं अपने साथियों के साथ विश्वास घात कैसे कर सकता हूँ?"

राक्षस ने कहा—'यदि तुम मेरी बात नही मानते हो, तो आओ मुझसे लडो।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"अजी! आप की और हमारी लडाई भला शोभा देती है, आप इतने बड़े हो, मैं इतना छोटा हूँ।"

राक्षस ने कहा—"छोटे बडे की बात नहीं। तुमको मुझसे लड़ना पडेगा, तुम नही लडोगे तो मैं पहिले प्रहार करता हूँ।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—'ऐसा मत कीजिये राक्षसराज! हमारी आपकी क्या लडाई।"

राक्षस ने श्रीकृष्णचन्द्र पर प्रहार किया भगवान् हँस पड़े और बोले—वाह! आप तो बड़े बलवान् हैं। अब लीजिये मैं भी

पकड़ता हूँ। इस प्रकार भगवान् हंसते हुए उसके प्रहारों का प्रतिकार करते रहे और खिल-खिलाकर हंसते हुए उसकी प्रशंसा भी करते जाते, भगवान् जितना ही हंसते जितनी ही उसकी प्रशंसा करते वह उतना ही छोटा होता जाता। तीसरे प्रहर तक वह इतना छोटा हो गया कि भगवान् ने उसे अपने पीताम्बर के एक कोने में गाठ देकर बाँध लिया। तब तक बलरामजी और सात्यकी भी जाग पड़े। तीनों तैयार होकर पुनः चलने लगे। मार्ग मे सात्यकी जी ने कहा—"रात्रि मे एक राक्षस आया था, उसने प्रहर भर तक मुझसे बडा भारी युद्ध किया। मैं क्रोध करके उस पर जितना ही प्रहार करता वह उतना ही बढता जाता था।"

इस पर बलदेवजी बोल उठे—"भैया, तुम ठीक कहते हो, वह राक्षस मेरे पास भी आया था। वह बडा भारी बलवान् था मैं हल मूसल से जितना ही क्रोध करके उस पर प्रहार करता वह दुष्ट उतना ही बढता जाता। वह बहुत भारी बडा था।"

तब श्रीकृष्ण ने कहा—'वह राक्षस मेरे भी पास आया था। किन्तु मैंने उस पर क्रोध नही किया, मैं तो हँसता रहा। मैं जितना ही हँसता, वह उतना ही छोटा होता जाता था। अन्त मे वह इतना छोटा हो गया, कि मैंने अपने पीताम्बर की कोर मे उसे गाठ मे बाँध लिया।" यह कहकर श्रीकृष्ण ने अपने पीताम्बर की कोर मे बँधी गाठ खोलकर उसे दिखा दिया। वह चीटी से भी बहुत छोटा था।

बलदेवजी ने पूछा—"यह इतना छोटा कैसे हो गया। मैं तो जितना ही क्रोध करके इस पर प्रहार करता था, यह उतना ही बढता जाता था।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—"भैया! यह राक्षस और कोई

नहीं है, यह क्रोध ही है। क्रोध के सम्मुख तुम जितना ही क्रोध करोगे, वह उतना ही बढ़ता जायगा। और जितना ही अक्रोध करोगे, हँसते रहोगे, उतना ही यह छोटा बनता जायगा। मैंने प्रसन्नता प्रकट करके हँस-हँसकर – इसे इतना छोटा बना दिया है।"

वास्तव मे क्रोध, क्रोध से ही बढ़ा करता है, क्रोधी के सम्मुख क्रोध न करे तो वह अपने आप शांत हो जायगा। प्रज्वलित अग्नि के सामने जितना अधिक ईंधन रखोगे उतनी ही अधिक वह प्रज्वलित होती जायगी। ईंधन के अभाव मे वह शान्त हो जायगी। अत जिन्हे क्रोध को न बढाना हो वे क्रोधी के सम्मुख क्रोध न करें शान्त बने रहे तो क्रोधी का भी क्रोध शान्त हो जायगा। क्रोध न करना अक्रोध दैवी सम्पत्ति है और क्रोध करना आसुरी सम्पद् है।

आसुरी सम्पदा का पाँचवाँ लक्षण है-पारुष्य। पारुष्य कहते हैं कठोर वचन को। किसी के मुख पर ही कडवी बातें कहना, गाली बक देना यही कठोरता है। यही पारुष्य का लक्षण है। पारुष्य क्रोध रूपी जलती अग्नि मे वायु का काम करता है। जलती अग्नि वायु लगने से और अधिक प्रज्वलित होती है। समस्त अनर्थ पारुष्य भाषण से ही होते हैं।

द्रोणाचार्य पाचाल नरेश द्रुपद को अपना सहपाठी, गुरुभाई तथा बाल्यकाल का मित्र समझकर उससे एक गौ माँगने की इच्छा से आये थे। उन्होने यही कहलाया–राजा से कहो उनके मित्र द्रोण उनसे मिलने आये हैं। इतना सुनकर भी द्रुपद पहिले तो मिले ही नही जब द्रुपद के ढिंग जाकर द्रोणाचार्य ने कहा— "राजन् ! आपने मुझे पहिचाना ? मैं आपका सहपाठी मित्र द्रोण हूँ, आपका प्रिय सखा हूँ, आपसे भेंट करने यहाँ आया हूँ।"

इतना सुनते ही ऐश्वर्य के मद मे मदमाते हुए राजा द्रुपद महामुनि द्रोणाचार्य से परुष वचन बोले। सम्मान योग ब्राह्मण का तिरस्कार करते हुए उनसे ये कठिन वचन कहे— "अरे ब्राह्मण! तेरी बुद्धि सस्कार हीन है। इसीलिये तू अट क्षो सट बातें वक रहा है। तुझ दरिद्र ब्राह्मण को मुझे मित्र कहते लज्जा भी नही आती? हे मन्द बुद्धि भिक्षुक ब्राह्मण! तू इतना भी नही समझ सकता कि एक ऐश्वर्य सम्पन्न राजा की और एक श्री हीन निधन दरिद्र भिक्षुक साधारण ब्राह्मण की मित्रता किस प्रकार हो सकती है? मान लो कभी किसी कारण वश मैत्री हो भी जाय, तो वह समय पाकर नष्ट हो जाती है। पहिले हम और तू एक हो दशा मे थे, तभी मेरी तेरी मैत्री हो गयी थी। किन्तु अब वह मित्रता पुरानी पड़ गयी, अब वे बातें अतीत के गर्भ मे विस्मृति के रूप में परिणित हो चुकी। ऐसी मित्रतायें चिरस्थाई नही हुआ करती। वे तो उसी अवसर की होती हैं। ऐसी विस्मृतियाँ चिरकाल के वियोग होने से या क्रोध के कारण नष्ट भ्रष्ट हो जाया करती हैं। अब तू उन पुरानी बातों को सर्वथा भुला दे। बालकपन मे जो साधारण बालकों मे मित्रता हो जाती है वह तो खेलने कूदने के कारण होती है मैत्री और विवाह सम्बन्ध तो समान मे हुआ करते हैं। मूर्ख और विद्वान का, धनी और दरिद्री की तथा शूरवीर और भीरु की कहा मित्रता हो सकती है? तू ही सोच निर्धन दरिद्री पुरुष की राजा से कैसे मित्रता हो सकती है। अतः सावधान, अब कही भी फिर कभी हमारी अपनी मित्रता की बात मुख से भी मत निकालना।"

एक अपने बाल-काल के सहपाठी से ऐसे कठोर वचन कहना कितना अनुचित है। दरिद्र होने से ही कोई हेय, पोछे

ही हो जाता है। दरिद्री सुदामा का षडैश्वर्य सम्पन्न श्रीकृष्ण चन्द्र जी ने कैसा आदर किया था। कैसे मधुर वचनो से उनका स्वागत सत्कार किया था। राजा द्रुपद भले ही द्रोणाचार्य को कुछ न देते, किन्तु उनसे ऐसे परुष वचन तो न बोलते। उनके इस पारुष्य व्यवहार, का ही यह परिणाम हुआ कि द्वेष की जड गहरी पड गयी। द्रोणाचार्य ने इस द्वेष का बदला लेने के लिये ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध राजकुमारो को उनके घर पर जाकर पढाया उन लडको से हो द्रुपद को पकडवाकर मँगवाया, उसका आधा राज्य छीन लिया। राजा द्रुपद ने भी द्रोणाचार्य से बदला लेने के लिये अभिचार यज्ञ कराया। द्रोणाचार्य का वध कराने तथा कौरव पाडव कुल का नाश कराने धृष्टद्युम्न और द्रौपदी को उत्पन्न कराया। मानो इन पारुष्य वचनो से ही महाभारत की नीव पड गयी। अतः पारुष्य वचन, पारुष्य व्यवहार विनाश के कारण हैं। आसुरी सम्पद् के लक्षण हैं।

दैवी सम्पदा का छठा लक्षण है—अज्ञान। यह वक्तव्य है यह अकर्तव्य है इस प्रकार के विवेक का नाम ज्ञान है। इसका जिसमे अभाव हो उस वृत्ति का नाम है अज्ञान। अज्ञान से जो कार्य किये जाते हैं उसका परिणाम दुखद ही होता है। अज्ञान के वशीभूत होकर ही जड समुद्र ने टिटहरी के अडो को हर लिया था। इस पर टिटहरी ने समुद्र को खाली करने का निश्चय कर लिया। वह चोच मे भर भर कर समुद्र के पानी को बाहर फेकने लगा। नारदजी द्वारा गरुडजी को यह बात मालूम हुई। गरुडजी तो पक्षियो के राजा ही ठहरे। वे भी उनकी सहायता करने लगे। तब अगस्त मुनि आये। सम्पूर्ण जल को पी गये। समुद्र ने अडे दे दिये। तब कही जाकर अगस्त जी ने मूत्रेन्द्रिय के द्वार से समुद्र का पानी निकालकर उसे भर दिया। इसी कारण

सैंभो से समुद्र का जल खारी हो गया। समुद्र के अज्ञान के कारण ही ऐसा हुआ।

ये ६ तो आसुरी सम्पदा के मुख्य लक्षण हैं। इनके अतिरिक्त दैवी सम्पदा के विपरीत जितने भी दुर्गुण हैं। उनको भी आसुरी सम्पदा के अन्तर्गत मानना चाहिये। जैसे भय, अन्त.करण की अशुद्धि, अज्ञान मे निष्ठा, कृपणता, इन्द्रियों को वश में न रखना, यज्ञ न करना, तप, स्वाध्याय न करना, क्रूरता, हिंसा, असत्य, सग्रह, अशान्ति, चुगली करना, अदया लोलुपता, कठोरता, निर्लज्जता, चञ्चलता, तेज हीनता अक्षमा, अधीरता, अशोच, वैर भाव रखना तथा सम्मान लोलुपता आदि-आदि ये भी सभी आसुरी संम्पदायें है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने दैवी सम्पदा के लक्षण तो आपको बता दिये अब भगवान् ने आसुरी सम्पदा के जो लक्षण बताये उन्हें आपको और सुनाता हूँ। भगवान् ने अर्जुन से कहा—"हे पार्थ! जो पुरुष आसुरी सम्पद् मे उत्पन्न हुए हैं उनके लक्षण ये हैं।"

जो आसुरी सम्पदा वाले होते हैं। उनमें दम्भ बहुत होता है। अधार्मिक होते हुए भी धर्म की ध्वजा उठाकर अपने को धार्मिक प्रकट कर ना यही दम्भ है।

दूसरे उनमे दर्प अथवा गर्व बहुत होता है। गर्व मे भरकर दूसरों को सदा तिरस्कार करते रहते हैं।

तीसरा अतिमान या अभिमान है। आवश्यकता से अधिक मान सम्मान की उत्कट इच्छा।

चौथा उनमें क्रोध बहुत होता है, अपकार करने वालों को देखकर या धनियों गुणियों को देखकर जो अकारणे ही अन्तः-करण में एक प्रकार की जलन होती है उसी का नाम क्रोध है।

पाँचवाँ पारुष्य उनमे बहुत होता है। किसी के मुख पर ही कठोर से कठोर बचन कह देंगे।

छटे वे बडे अज्ञानी होते हैं उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नही रहता। इनके अतिरिक्त दैवी सम्पदा के विपरीत जितने दुर्गुण हैं। वे सब भी आसुरी सम्पदा वालो मे होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! दैवी सम्पदा का फल क्या है? और आसुरी सम्पदा का फल क्या है? और कृपा करके यह भी बता दीजिये कि मैं दैवी सम्पदा मे उत्पन्न पुरुष हूँ अथवा आसुरी सम्पदा वाला हूँ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

'दम्भ' धरमध्वज लिये अधरमी धरम सिखावै।
'दर्प' गरब कूँ कहत तिरसकृत गुनिनि करावै॥
करै 'अधिक 'अभिमान' फिरै बनिकै अतिमानी।
करै 'क्रोध' हिय जरै सबहि जी दुरगुन खानी॥
कटु भाषन मुह पै करै, यही बचन 'पारुष्य' है।
कही वृत्ति 'अज्ञान' यह, नहिँ करतव को ज्ञान है॥

दैवी सृष्टि और आसुरी सृष्टि

[५]

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

दैवी सम्पद माहिँ भये जो पैदा प्रानी।
तिनि की निश्चय मुक्ति कहें ऐसे नर ज्ञानी॥
जो पैदा जन भये आसुरी सम्पद माहीं।
बन्धन तिनि जग होहि मुक्ति तिनिकी है नाहीं॥
अरजुन! तू मति सोच करि मुक्ति होयगी तव अवसि।
दैवी सम्पद में भयो, दैवी ही में तू प्रविसि॥

---

* हे पाण्डव! दैवी सम्पदा तो मुक्ति के निमित्त है और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये माना गया है। तुम तो दैवी सम्पदा वाले हो। इसलिये शोच मत करो ॥५॥

हे पार्थ! इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो भाँति के होते हैं, एक दैव दूसरे असुर। दैवी सम्पदा-वालों का स्वभाव पीछे मैंने विस्तार से कहा है, अब आसुरी सम्पदा वालों का स्वभाव सुनो ॥६॥

संसार में दो ही प्रकार हैं, अच्छा बुरा, धर्म अधर्म सुख दुख, नर्क स्वर्ग। वास्तविकता दो ही मे आ जाती है, फिर मिश्रित करके चाहे जितने भेद कर लो। इस मनुष्य लोक में दो ही प्रकार के मनुष्य देखने मे आते हैं, एक स्वर्गीय पुरुष दूसरे नारकीय पुरुष। कुछ लोग तो स्वर्ग सुखों का उपभोग करके कुछ पुण्य शेष रहने पर मनुष्य लोक में आते हैं कुछ लोग नरकों की यातना झेलकर कुछ पाप शेष रहने पर पृथ्वी पर आते है वे नारकीय पुरुष कहाते हैं। किसी के माथे पर तो लिखा नही रहता, यह स्वर्गीय जीव है, यह नारकीय जीव है। स्वाभाव को देखकर ही अनुमान लगाया जाता है, कि यह स्वर्गीय है या नारकीय।

शास्त्रकारो ने स्वर्ग से लौटकर पृथ्वी पर आने वाले जीवों के चार चिह्न बताये हैं, जिनमे ये चार लक्षण दिखाई दें उन्हें स्वर्गीय पुरुष समझना चाहिये। पहिला लक्षण तो है दान प्रसंग। दान देने में जिनकी स्वाभाविक रुचि हो दान देते-देते जिनकी तृप्ति ही न होती हो। दान देने मे जिन्हे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव होता हो इस प्रसंग मे महाराज शिवि, महाराज रन्तिदेव, महाराज हरिश्चन्द्र, महाराज रघु, दानवीर कर्ण आदि अनेको राजर्षियो का नाम लिया जा सकता है, महर्षि दधीचि, मुनिवर यवक्रीत आदि अनेको ऋषियो की गाथा प्रसिद्ध है। दान का अनंत माहात्म्य है दान की महिमा वस्तुओ के बाहुल्य से नहीं होती। दाता की भावना के अनुसार होती है, इस विषय मे महाभारत का यह आख्यान बहुत प्रसिद्ध है। महाराज धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय महायज्ञ में लाखो करोडो ब्राह्मणों ने भोजन किया, अगणित द्रव्य का दान दिया गया। ब्राह्मणो के पैर धुलाते-धुलाते वहाँ बडी भारी कीच हो गयी थी।

धर्मराज युधिष्ठिर ने एक दिन देखा उस कीच में एक न्योला लोट लगा रहा है, उसका आधा शरीर सुवर्ण का था, आधा साधारण न्योले के सदृश था। इधर से उधर कीच मे लोटता फिरता है।

धर्मराज ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! यह न्योला कीच में इस प्रकार क्यों लोट रहा है और इसका आधा शरीर सुवर्ण का क्यो है?"

भगवान् ने कहा—"राजन! आप इस न्योले को बुलाकर इसी से इसका कारण पूछिये।"

तब धर्मराज ने न्योले को बुलाकर पूछा—"भाई, तुम इस, कीच मे क्यो लोट रहे हो?, और तुम्हारा आधा शरीर सुवर्ण का क्यो है?"

इस पर न्योले ने कहा—"धर्मावतार! जिस वन मे, मैं रहता था वहाँ एक ब्राह्मण सपरिवार निवास करते थे। वे पन्द्रह दिन का अन्न संग्रह करके लाते। उसके सत्तू बनाकर उसी से निर्वाह करते। एक दिन वे पन्द्रह दिन के लिये सत्तू बनाकर लाये। ज्यों ही खाने के लिये बैठे त्यो ही एक अतिथि आ गया। उसे इन्होने बडी श्रद्धा भक्ति से भोजन कराया। अतिथि ब्राह्मण उनके सब के सब सत्तू खा गये। इन्होने अत्यत प्रीति पूर्वक उन सत्तुओं का दान किया, उन्हें भक्ति भाव से खिलाकर नम्रता पूर्वक उनके हाथ धुलाये। हाथ धुलाने से जो थोडी सी कीच हो गयी, उसमे मैं गर्मी के कारण जाकर लोट गया। कीच थोडी थी मेरे आधे ही अग मे लगी। जितने अग मे कीच लगी, उतना अग मेरा सुवर्ण का हो गया। तब मुझे बडा आश्चर्य हुआ। किसी मुनि ने बताया—"यह सात्विक दान का फल है, कि ब्राह्मण के हाथ धुलाने के जल की, कीच से तुम्हारा आधा भाग सुवर्ण का हो

गया। सो-राजन्! तब से मैं इसी ताड़ मे रहता था, कि कोई धर्मात्मा बहुत से अतिथि अभ्यागत ब्राह्मणों को अन्न दान दें, भोजन करावे और उनके हाथ पैर धोने मे जो कीच हो, उसमे मै जाकर लोटूं तो मेरा शेष शरीर भी सुवर्ण का हो जाय। जब मैंने सुना धर्मराज महान् राजसूय यज्ञ कर रहे हैं और उसमे लाखों करोड़ो ब्राह्मणो अतिथि अभ्यागतों को इच्छानुसार यथेष्ठ अन्नदान दिया जायगा। असख्यो पुरुषों को भोजन कराया जायगा। तब मैं यहाँ आया। और इसी आशा से लोट लगा रहा हूँ, कि मेरा शेष शरीर सुवर्ण का हो जाय, किन्तु मेरी आशा निराशा मे परिणित हो गयी। मेरा आधा शरीर ज्यो का त्यो ही रह गया, वह सुवर्ण का नही हुआ।"

इस पर धर्मराज ने भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी से पूछा—"भगवन्! यह क्या बात है, हमारे यहाँ इतना अन्न दान हुआ फिर भी इसका आधा शरीर सुवर्ण का नही हुआ। और ब्राह्मण के तनिक से सत्तू दान पर ही उस अतिथि के हाथ धोने की कीच से इसका शरीर सुवर्ण का क्यो हो गया?'

इस पर भगवान् ने कहा—"राजन्! हमारे इस यज्ञ मे न तो ऐसा कोइ सच्चा अतिथि ही आया—सभी अभिमान में भरकर आये थे, और न हम लोगो ने उस सत्तू दानी ब्राह्मण की भाँति श्रद्धा भक्ति से दिया। अतः आपके इस अगणित द्रव्य वाले यज्ञ से उस ब्राह्मण का सत्तू दान यज्ञ श्रेष्ठ है। अतः दान की महत्ता दाता की हार्दिक भावना के अनुसार मानी जाती है।"

स्वर्गीय पुरुषों का दूसरा लक्षण है—"मधुरवाणी। बहुत से लोग ऐसा बोलते हैं, मानो उनके मुख से फूल झड़ रहे हों। वे कठोर वचन कहना मानो जानते ही न हो। यह ऊपरी शृंगार अच्छे वस्त्र आभूषण मनुष्य की उतनी शोभा नहीं बढाते।

जितनी शोभा मधुर वाणी से बढती है। मीठी वाणी दूसरे के कानों मे अमृत घोल देती है, किन्तु मधुर वाणी सभी नहीं बोल सकते। उन्ही को मीठी वाणी होती है, जो सीधे स्वर्ग से यहाँ आये हुए हैं।"

स्वर्गीय पुरुषों का तीसरा लक्षण है–"देवताओं के पूजन में अनुराग होना। देवताओं के पूजन में भाग्यशाली पुरुषों को ही अनुराग होता है। देवता, ऋषि और पितरों के प्रति श्रद्धा पुण्यात्मा पुरुषों मे ही होती है। अर्जुन शिवजी की आराधना के प्रभाव से ही सशरीर स्वर्ग चले गये। उन्हे किरात के वेष मे शिवजी ने स्वयं ही आकर दर्शन दिया था, पहिले तो उन्होंने शिवजी को साधारण किरात ही समझा अतः उनसे बहुत देर तक युद्ध करते रहे। जब देखा मैं इस किरात को हटा ही नहीं सकता, तो पुनः शिवजी का अर्चन करने लगे। उनके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। वे जो पुष्प, बिल्वपत्र, माला आदि शिव लिंग पर चढाते वह किरात के ऊपर चढ जाता। तब तो वे समझ गये, जिनका मैं पूजन कर रहा हूँ, ये वे ही किरात वेषधारी शिव हैं। मेरी अर्चना को कृतार्थ करने पधारे हैं. वे उनके चरणों मे पड गये। शिवजी ने उन्हे साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया। अतः देव पूजन में प्रेम, देवार्चन मे निष्ठा सभी को नहीं होती, जो स्वर्गीय प्राणी हैं उन्ही की निष्ठा होती है।"

स्वर्गीय पुरुषो का चौथा लक्षण है—"ब्राह्मणों को तृप्त करने की, उनको प्रसन्न करने की भावना। जो नारकीय जीव है, वे तो कहते हैं जो रक्त, मांस हड्डी हमारे शरीर मे है, वही ब्राह्मण के शरीर मे है; फिर हम ब्राह्मण को क्यो खिलावें अपने ही शरीर को पुष्ट क्यों न करें। ये ही आसुरी भाव है। असुर उन्ही को कहते हैं, जो अपने प्राणों के पोषण पालन मे ही प्रसन्नता का अनुभव करते

हैं। जो श्रेष्ठ ब्राह्मणों को प्रणाम करके, उनके प्रति हार्दिक प्रेम प्रकट करके, उनको भोजनादि से सन्तुष्ट करते हैं, वे परमपद के अधिकारी हो जाते हैं। इस विषय के अनेकों उदहरण शास्त्र पुराणों में भरे पड़े हैं। प्रणाम करके मार्कंडेयजी ने दीर्घ आयु प्राप्त की। द्रोण ब्राह्मण की पत्नी ने अपने स्तन काटकर अन्न लाकर सपरिवार ब्राह्मण को तृप्त किया। इसके फल स्वरूप उन्हें प्रत्यक्ष भगवान् ने दर्शन दिया। द्रोण ब्राह्मण ही नन्द हुए। उनकी पत्नी धरा ही यशोदा मैया हुई, जिनके स्तनों का यशोदा-नन्दन नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रजी ने पान किया। इस प्रकार जिनमें दान मधुरवाणी, देवार्चन श्रद्धा और ब्राह्मणर्पण भावना हो वे स्वर्गीय पुरुष है।

अब जो नरक से लौटे हुए पुरुष हैं उनके शरीर में ६ चिन्ह शेष रह जाते हैं। जिनके शरीर में ये ६ चिन्ह दृष्टिगोचर हों, उन्हें समझना चाहिये ये सीधे नरक से लौटकर आये हैं।

उन छै चिन्हों में से पहिला चिन्ह है—"अत्यन्त क्रोध। जो अत्यन्त क्रोधी हों बात बात पर क्रोध से काँपने लगें। क्रोध में भर कर दूसरों पर प्रहार करने लगें दूसरों की हत्या तक कर डालें उन्हें नारकीय जीव समझना चाहिये।"

नारकीय जीवों का दूसरा लक्षण है—"कटुवचन बोलना। साधारण रूप से भी बोलें तो ऐसा लगे मानो विष उगल रहे हों। जो मीठा बोलना जानते ही न हों।"

नारकीय जीवों का तीसरा लक्षण है—'मन की दरिद्रता। जो अत्यन्त ही कृपण हों, दूसरों को देने में जिनके हाथ काँपने लगें दान देते हुए जिन्हें वेदना हो, जो मन के अत्यन्त ही कृपण, संग्रही, लोभी लालची दरिद्री हों। ये पापियों के लक्षण है, नारकीय जीवों के चिन्ह है।"

नारकीय जीवों का चौथा लक्षण है—"अपने स्वजनों से बन्धुओं से सदा वैर भाव रखना। जैसे दुर्योधन रखता था। वह साक्षात् कलियुग का अवतार ही था।"

नारकीय जीवों का पाँचवाँ लक्षण है—"नीच लोगों का साथ करना। नीच पुरुषों के ही साथ उठना बैठना, उन्हीं से सलाह सम्मति लेना, उन्हीं के सहयोग से काम करना।"

नारकीय जीवों का छटा लक्षण है—"हीन कुल वाले नीच, चोर, जार, ठग, अधर्मी पापी लोगों की सेवा करना। जो जैसी प्रकृति का पुरुष होगा, वह वैसी ही प्रकृति के पुरुषों की सेवा सुश्रूषा करेगा। जो स्वयं नारकीय होगा, अपने से बड़े प्रभावशाली नारकीय की ही सेवा करेंगे। छोटे डाकू बड़े डाकुओं की सेवा करते हैं, उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। छोटे पापी बड़े पापियों का ही अनुसरण करते हैं।"

जिस प्रकार स्वर्गीय और नारकीय पुरुषों की पहिचान है उसी प्रकार दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुषों की और आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुषों के पृथक्-पृथक् लक्षण हैं। जिनमें से भगवान् ने दैवीसम्पदा प्राप्त पुरुषों के लक्षण तो कहीं स्थितप्रज्ञ पुरुष के नाम से, कहीं भक्तों के लक्षण कहकर, कहीं ज्ञानी के लक्षण बताकर, कहीं गुणातीत की परिभाषा बताकर अनेकों बार वर्णन किया, किन्तु आसुरी सम्पदा वालों का कहीं विशेष विस्तार से वर्णन नहीं किया। उसी का वर्णन करने की भूमिका बाँधते हुए भगवान् कहने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् दोनों सम्पदाओं का फल बताते हुए कहते हैं—"हे पाण्डु के पुत्र अर्जुन! दैवीसम्पद् मोक्ष के लिये होती है। और आसुरी सम्पद् बन्धन के लिये।"

अर्जुन पूछा—"दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये कैसे होती है भगवन्।"

भगवन् ने कहा—"जैसे तुम ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र वर्ण में हो। अथवा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में हो। अथवा इन वर्णाश्रमों से अतीत हो, वर्णाश्रम रहित हो। तो जो भी तुम्हारे वर्ण, आश्रम, कुल का परम्परागत आचार व्यवहार मर्यादा हो उसे निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ करते चलो वही मुक्ति का साधन है। वही कल्याणकारी पथ है। इसके विपरीत तुम वर्ण, आश्रम, कुल मर्यादा को छोड़कर सकाम भाव से मनमानी क्रिया करने लगो, अहंकार के वशीभूत होकर राजस् तामस कार्यों मे प्रवृत्त हो जाओ, यही आसुरी प्रकृति है इससे संसारी बन्धन और दृढ़तर होता जायगा।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो ठीक ही है, अपनी स्थिति अपने को स्वय प्रतीत नहीं होती। गुरुजन ही उसकी स्थिति देखकर उसका लक्षण बताते हैं। कृपा करके मुझे बताइये। मैं दैवीसम्पदा वाला हूँ या आसुरी सम्पदा प्राप्त हूँ। मुझे इसी बात का सोच हो रहा है, कि कहीं मैं आसुरी सम्पदा के वशीभूत होकर ही आप से युद्ध न करने का हठ तो नहीं कर रहा हूँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले "अरे, अर्जुन! तू सोच मत कर, चिंता को छोड़ दे तू तो दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुष है। तेरे द्वारा अब तक दैवी सम्पदा के ही कार्य होते आये हैं और आगे भी होते रहेंगे। तू क्या पाण्डु के सभी पुत्र तेरे सभी भाई दैवी सम्पदा युक्त हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपने दूसरे अध्याय मे जो स्थितप्रज्ञों के लक्षण बताये; बारहवें अध्याय मे जो भक्तों के लक्षण बताये, तेरहवें अध्याय में जो ज्ञानियों के लक्षण बताये, चौदहवें

अध्याय में जो गुणातीतों के लक्षण बताये वे सब लक्षण, सोलहवें अध्याय में जो देवीसम्पदा के लक्षण हैं, उनसे प्रायः मिलते जुलते ही हैं। अतः इस विषय का तो आपने विस्तार से वर्णन किया, किन्तु आसुरी सम्पदा के केवल ६ लक्षण ही बताकर इसे समाप्त कर दिया। कृपा करके इस पर भी कुछ अधिक प्रकाश डालने की कृपा करें।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् कहने लगे—"देखो भैया! इस लोक मे दो ही तो सम्पदायें है। एक दैवी सम्पद् दूसरी आसुरी सम्पद्। मानवीय सृष्टि मे ये दो ही चलती है। तुम ठीक कहते हो, मैने दैवी सम्पदा का ही विस्तार से वर्णन किया। यही आवश्यक भी था। क्योंकि ग्रहण करने योग्य दैवी सम्पद् ही है। ग्राह्य होने से ही मैने इसका बार-बार वर्णन किया। अब तुम कहते हो तो तुम्हारे कहने से हे पार्थ! मैं आसुरी सम्पदा का भी वर्णन करूँगा। हेय होने के कारण त्यागने के लिये इसका परिचय प्राप्त कर लेना भी अत्यावश्यक है। अतः अब तुम आसुरी सृष्टि का मुझसे वर्णन श्रवण करो। उसे भी मै तुमको सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् आसुरी सृष्टि वालो का वर्णन करेंगे, उस प्रसग को मै आगे वर्णन करूँगा, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

यह मानव समुदाय सम्पदा द्वै में विभजित।
एक आसुरी माहिँ दूसरे दैवी सम्पत॥
दैवी सम्पद कही तोइ विस्तार सहित सब।
पुनि आसुरि संपत्ति सुनो पारथ! मोतैं अब॥
दैवी सम्पत में भये, जितने जन, सब श्रेष्ठ हैं।
भये आसुरी में प्रकट, सबई पुरुष कनिष्ट हैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (१)

[६]

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ - ७ श्लो०),

छप्पय

कौन जगत में प्रवृति कौन निरवृत्ति कहाई ।
मुख्य बात है यही वेद ऋषि मुनिनि बताई ॥
पुरुष आसुरी प्रकृति प्रवृति निरवृत्ति न जानें ।
ताई ते वे बाहर भीतर शौच न मानें ॥
उनमें नहिं आचार है, नहीं श्रेष्ठ आचरन जिनि ।
करें सत्य भाषन न वे, है असत्य व्यवहार तिनि ॥

भिन्न-भिन्न शास्त्रों मे, प्रमाण भी भिन्न-भिन्न माने हैं, कोई तो एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है कोई अनुमान सहित दो मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द इन चार को ही प्रमाण मानते हैं, कोई इनमे अर्थापत्ति को मिलाकर पाँच मानते

---

* आसुरी प्रकृति वाले पुरुष प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नहीं जानते । उनमे न तो शौच ही होता है और न आचार ही । उनमे सत्य भी नहीं होता ॥७॥

हैं, कोई अनुपलब्धि को मिलाकर ६ मानते है, कोई सम्भव को मिलाकर सात मानते कोई ऐतेह्य इतिहास को मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणो के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत है। प्रत्यक्ष को तो सभी प्रमाण मानते है। अनुमान और उपमान को भो प्राय: कुछ लोगो को छोडकर सब स्वीकार कर लगे। शब्द तथा आर्षादि प्रमाणो क सम्बन्ध मे ही मतभेद है। वेदादि शास्त्रों में यह बात लिखो है, इसे माननी ही चाहिये। अमुक ऋषि ने ऐसा कहा है इसे मानना हो चाहिये। ऐसी हमारी सनातन लौकिक परम्परा है मानना ही चाहिये। इतिहास के हमारे अमुक महापुरुष ने ऐसा आचारण किया था, इसे प्रमाण स्वरूप मानना ही चाहिये। इन्ही बातो में आस्तिक और नास्तिको मे मतभेद है। आस्तिक उसे कहते हैं जो वेदादि शास्त्रों को प्रमाण माने। नास्तिक उसे कहते हैं, जो वेदादि शास्त्रो की निन्दा करे। ईश्वर को एक बार भले ही मत मानो वह नास्तिक नहो कहविगा। जैसे साख्य वाले वैशेषिक वाले ईश्वर को नही मानते फिर भी वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। नास्तिक वही है जो वेद निन्दक है शब्द को शास्त्र को जो प्रमाण नहो मानता।

शास्त्र हमें यह शिक्षा देता है, यह प्रवृत्ति है यह निवृत्ति है। यह कर्म श्रेयस्कर है, यह अश्रेस्कर है। इस कर्म के करने से कल्याण होगा, इसके करने से अकल्याण हागा। यह धर्म है यह अधर्म है। शास्त्रानुकूल आचरण करना यही आस्तिकता है। शास्त्र की आज्ञाओ को न मानकर मनमाना आचरण करना यही नास्तिकता है। आस्तिक भाव ही दैवो सम्पदायें हैं, नास्तिक भाव ही आसुरी सम्पदायें हैं। जो लोग आस्तिक हैं, शास्त्रों के अनुशासन को मानकर चलते हैं। शास्त्रो ने जिन कामो को लोक परलोक में

कल्याणकारी बताया है, उन्ही कामों को जो श्रद्धा विश्वास के साथ करते हैं, ऐसे देवी स्वभाव वाले पुरुषों के लक्षण तो कई बार बता चुके हैं। अब जो आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो द्वारा किये हुए त्यागने योग्य उपेक्षणीय कर्म हैं, जिनको विशेष रूप से आसुरी प्रकृति वाले पुरुष किया करते हैं। उन्ही को भगवान् बताते हैं। उन नास्तिक स्वभाव वाले पुरुषो मे श्रद्धा का अभाव रहता है, वे मनमानी बरजाबी किया करते हैं। वे शास्त्रों के वचनो पर विश्वास नही करते उनमे पवित्रता, आचार विचार तथा सत्य का सर्वथा अभाव ही रहता है। ऐसो आसुरी सम्पदा के पुरुष सर्वथा नास्तिक ही हो, सो भी बात नही वेद शास्त्रों के ज्ञाता भी यदि आचार विचार पवित्रता से हीन हो, तो उन्हे भी आसुरी प्रकृति वाला पुरुष समझना चाहिये। यह इस घटना से प्रकट होता है।

पांचाल नरेश महाराज द्रुपद को जब द्रोणाचार्य की आज्ञा से कौरव-पांडव बांधकर ले गये, और द्रोणाचार्य ने उससे उसका आधा राज्य लेकर उसे अपमानित करके छोड़ दिया, तब उसने भी क्रोध मे भरकर द्रोणाचार्य से बदला लेने का, उन्हे मरवा डालने का निश्चय कर लिया। युद्ध मे तो द्रुपद उन महाबली आचार्य द्रोण को हरा नही सकते थे, इसलिये द्रुपद ने अभिचार यज्ञ द्वारा द्रोणाचार्य को मरवाने की बात सोची। वे एक ऐसे आचार्य की खोज मे वन-वन भटकते फिरे जो ऐसा अभिचार यज्ञ करा दे, जिससे द्रोणाचार्य की मृत्यु हो सके। किन्तु किसी भी वेदज्ञ ब्राह्मण ने ऐसा यज्ञ कराना स्वीकार नही किया जिसके परिणाम स्वरूप एक वेदज्ञ शस्त्र-शास्त्रज्ञ ब्राह्मण का वध हो सके। सभी ने राजा द्रुपद के इस नीच कार्य के प्रति ... प्रकट की। राजा अत्यन्त ही चिंतित होकर इ...

उपयाज ने कहा—' राजन् वे मना नही करेंगे वे तुम्हे अवश्य यज्ञ करा देंगे ।"

राजा ने पूछा—"क्या कारण है ?"

उपयाज ने कहा—"मेरे भाई आचार-विचार हीन हैं, उन्हें पवित्रता अपवित्रता का विचार नही । वे लोभी भी हैं । इतनी विपुल दक्षिणा के लोभ से वे अवश्य इस क्रूर कार्य को करा देंगे ।"

राजा ने पूछा—"महाराज ! आपको कैसे पता ?"

उपयाज ने कहा—"एक दिन हम और वे बन में जा रहे थे, वे आगे-आगे थे, मैं उनके पीछे था, मार्ग मे एक फल पड़ा मिला । मेरे भाई ने लोभवश वह फल तुरन्त उठा लिया । उन्होने इस बात का विचार नही किया, कि यह भूमि पवित्र है या अपवित्र, यह फल पावन है या अपावन, यह ग्राह्य है या अग्राह्य, यह विहित है या अविहित । तभी मैंने निश्चय कर लिया कि इन्हे अपावन वस्तु ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही होगी । जब सामान्य वस्तु पर उनका ऐसा लालच था, तब इतनी भारी दक्षिणा के लोभ से तो वे तुम्हे अभिचार यज्ञ अवश्य ही करा देगें ।

राजा ने कहा—"वह तो कोई सयोग बन गया होगा ?"

उपयाज ने कहा—"सयोग की बात नही । मेरे भाई की यह प्रकृति ही है । जब हम दोनो भाई गुरुकुल मे पढते थे, उन दिनो भी वे दूसरो का उच्छिष्ट बड़े प्रेम से खा लेते थे । उनको किसी का उच्छिष्ट खाने मे तनिक भी ग्लानि नही होती थी । यही नही दूसरो का उच्छिष्ट खाते-खाते वे उसकी प्रशंसा भी करते जाते थे । इन सब बातो को स्मरण करके मैं कहता हूँ वे तुम्हारा काम अवश्य करा देंगे ।"

फिरने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने एक वेदज्ञ ब्राह्मणों से भरा हुआ आश्रम देखा। उसमें सहस्रों वेदज्ञ ब्राह्मण थे। याज और उपयाज दो बड़े ही तेजस्वी ब्राह्मण थे। उनमें छोटा भाई उपयाज परम तेजस्वी था। राजा उसी की सेवा करने लगे। जब राजा ने देखा सेवा से उपयाज मुनि प्रसन्न हो गये। तब उन्होंने मुनि से अपना अभिप्राय कहा—"ब्रह्मन्! मैं एक ऐसा यज्ञ कराना चाहता हूँ, जिसके द्वारा द्रोण को मारने वाला मेरे पुत्र हो। आप ऐसा यज्ञ करा देंगे तो मैं आपको दश करोड़ गौएँ दूँगा और भी आप जो माँगेंगे वह दूँगा।"

धर्मात्मा उपयाज ने कहा—"राजन्! मुझसे ऐसे क्रूर कर्म की आप आशा न रखें। मैं ऐसा अभिचार यज्ञ कभी भी न कराऊँगा।"

राजा मुनि का उत्तर सुनकर दुखी हुए, किन्तु निराश न हुए, वे बड़ी श्रद्धाभक्ति से एक वर्ष पर्यन्त मुनि की तत्परता से सेवा करते रहे। एक वर्ष पश्चात् राजा ने पुनः मुनि के पैर दबाते-दबाते वही प्रस्ताव किया। सेवा से कठोर से कठोर आदमी भी पिघल जाता है। सेवा से आदमी कैसा भी क्यों न हो वश में हो ही जाता है। सेवा के साथ लालच भी हो। उन दिनों गौएं ही परमधन मानी जाती थीं। राजा के प्रस्ताव पर उपयाज मुनि ने कहा—"राजन्! मुझसे आप इस क्रूर कर्म की तनिक भी आशा न रखें। मैं ऐसा द्रोणघाती अभिचार यज्ञ कभी नहीं करा सकता। हाँ, मैं तुम्हें एक उपाय बता सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! उपाय ही बताइये।"

उपयाज ने कहा—"मेरे एक ज्येष्ठ भाई हैं याज। वे आपकी इच्छानुसार ऐसा यज्ञ करा देंगे।"

राजा द्रुपद ने कहा—"ब्रह्मन्! वे भी मना कर दें तब?"

उपयाज ने कहा—' राजन् वे मना नही करेंगे वे तुम्हे अवश्य यज्ञ करा देंगे।"

राजा ने पूछा—"क्या कारण है ?"

उपयाज ने कहा—"मेरे भाई आचार-विचार हीन हैं, उन्हें पवित्रता अपवित्रता का विचार नही। वे लोभी भी हैं। इतनी विपुल दक्षिणा के लोभ से वे अवश्य इस क्रूर कार्य को करा देंगे।"

राजा ने पूछा—"महाराज ! आपको कैसे पता ?"

उपयाज ने कहा—"एक दिन हम और वे बन में जा रहे थे, वे आगे-आगे थे, मैं उनके पीछे था, मार्ग मे एक फल पडा मिला। मेरे भाई ने लोभवश वह फल तुरन्त उठा लिया। उन्होने इस बात का विचार नही किया, कि यह भूमि पवित्र है या अपवित्र, यह फल पावन है या अपावन, यह ग्राह्य है या अग्राह्य, यह विहित है या अविहित। तभी मैंने निश्चय कर लिया कि इन्हे अपावन वस्तु ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही होगी। जब सामान्य वस्तु पर उनका ऐसा लालच था, तब इतनी भारी दक्षिणा के लाभ से तो वे तुम्हे अभिचार यज्ञ अवश्य ही करा देगें।

राजा ने कहा—"वह तो कोई सयोग बन गया होगा ?"

उपयाज ने कहा—"सयोग की बात नही। मेरे भाई की यह प्रकृति ही है। जब हम दोनो भाई गुरुकुल मे पढते थे, उन दिनो भी वे दूसरो का उच्छिष्ट बड़े प्रेम से खा लेते थे। उनको किसी का उच्छिष्ट खाने मे तनिक भी ग्लानि नही होती थी। यही नही दूसरो का उच्छिष्ट खाते-खाते वे उसकी प्रशंसा भी करते जाते थे। इन सब बातो को स्मरण करके मैं कहता हूँ वे तुम्हारा काम अवश्य करा देंगे।"

राजा द्रुपद को याज की ये बातें सुनकर मन ही मन उनके प्रति बडी ग्लानि हुई। वे सोचने लगे ऐसे आचार विचार हीन पवित्रता से रहित ब्राह्मण के पास कैसे जाऊँ, किन्तु स्वार्थ बडा क्रूर होता है वे याज के पास गये। याज ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। यज्ञ कराया उसी यज्ञ कुण्ड से द्रोणाचार्य का वध करने धृष्टद्युम्न और पचाली द्रौपदी की उत्पत्ति हुई।

यद्यपि याज ब्राह्मण थे, वेदज्ञ थे, कर्म काडी थे फिर भी आचार विचारहीन पवित्रता से रहित लोभी होने के कारण आसुरी प्रकृति के ही थे। उनकी गणना आसुरी प्रकृति के पुरुषो मे ही की जायगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् आसुरी प्रकृति के पुरुषो के लक्षण बताते हैं। भगवान् ने कहा—"अर्जुन! आसुरी सम्पदा वाले प्रवृत्ति और निवृत्ति को नही जानते।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या है?"

भगवान् ने कहा—"धर्म और अधर्म के प्रतिपादक जो शास्त्र हैं उन शास्त्रो मे जिसे कल्याणकारी कर्तव्य बताया है, वह तो प्रवृत्ति है और जिसे अकल्याणकारी अकर्तव्य कहा है उन कर्मों से दूर रहना, बचे रहना इसे ही निवृत्ति कहते हैं। आसुरी प्रकृति वाले पुरुष इन बातो का विचार नहीं करते। उनके जो मन मे आता है, जो भी उन्हे अच्छा प्रतीत होता है उस ही करने लगते हैं। उनमे भीतर बाहर का शौच भी नही रहता।"

अर्जुन ने पूछा—"शौच क्या?"

भगवान् ने कहा—"स्नान की पवित्रता, भोजन की पवित्रता वस्त्रादि अन्य वस्तुओ की पवित्रता यही बाह्य शौच है। अन्त-

करण की पवित्रता यह भीतरी शौच है। वे आसुरी प्रकृति वाले स्नान करते हैं तो पवित्रता के लिये नही, शरीर को सजाने के लिये। जहाँ तहाँ जैसा भी अपवित्र उच्छिष्ट तामस भोजन मिल जाता है, बिना बिचारे जूता वस्त्र पहिने सबके साथ खाने लगते हैं। मन मे द्वेष भाव कपट रखते हैं। यही शौच हीनता है। वे लोग आचार हीन भी होते है।"

अर्जुन ने पूछा—"आचार हीनता क्या ?"

भगवान् ने कहा—'मनु आदि स्मृतिकारो ने जिन आचार विचारो का निरूपण किया है। जिन्हें करने को आज्ञा की है उन आचारो का पालन न करना ही आचार हीनता है। आसुरी सम्पदा वाले आचार हीन होने के साथ ही सत्य व्यवहार भी नही रखते।"

अर्जुन ने पूछा—'सत्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—'प्रिय हितकर और यथार्थ वचन को ही सत्य कहा गया है। बात यथाथ भी हो किन्तु उसे इस ढंग से कहे कि अप्रिय भी न लगे और सुनने वाला अधिक उत्तेजित भी न हो। आसुरी सम्पदा वाले कडवा वचन बोलते हैं, जो अहित-कर तथा यथार्थ नही होता।"

अर्जुन ने पूछा—"आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के और भी लक्षण बताइये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् आसुरी सम्पदा वाले पुरुषों के और भी लक्षण बतावेंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वेद विहित जो धरम वही तो 'प्रवृति' कहावै।
यह नहिँ करिबे जोग्य करम निरवृत्ति कहावै॥
तन मन को शुचि भाव 'शौच' मुनि भाखैं ताकूँ।
शास्त्र विहित व्योहार कहैं 'आचार' हु वाकूँ॥
'सत्य' जथारथ बात कूँ, वेद शास्त्र सबई कहैं।
जो हैं आसुरि प्रकृतिजन, ये सब तिनि में नहिँ रहैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (२)

[७]

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥*
(श्री० भ० गी० १६ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

जो हैं आसुरि प्रकृति बात वे बहुत बनावें ।
अंटसंट अति बकें निराश्रय जगत बतावें ॥
हैं जग आश्रय रहित, सत्य नहिँ, असत कहावें ।
ईश्वर को नहिँ काम अनीश्वर प्रकृति चलावें ॥
पुरुष नारि संयोग तैं, होवें जग उत्पन्न सब।
कारन जाको काम है, करें फेरि क्यों भक्ति तब ? ॥

अनादि काल से ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद ये दो वाद चले आ रहे हैं। ईश्वरवादी कहते हैं। सब वस्तुओं का कारण होता है, जैसे घट का कारण मृत्तिका, पट का कारण सूत इसी प्रकार इस चराचर जगत् का कारण भी कोई होना चाहिये,

---

* उनमें असत्य और अनीश्वर वाद होता है। वे कहते हैं यह जगत् निराश्रय है, स्वयं ही परस्पर के संयोग से होता है। इसका उद्देश्य काम भोग ही है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

क्योंकि कारण के बिना कार्य दृष्टिगोचर होता ही नहीं। यह जगत् भी एक कार्य ही है। कार्य रूप जगत् प्रत्यक्ष है, इसका कारण कोई अवश्य होगा। जैसे वृक्ष को देखकर हम अनुमान लगाते हैं, कि यह वृक्ष है तो इसका बीज अवश्य रहा होगा, क्योंकि बीज के बिना वृक्ष हो ही नहीं सकता। अत इस संसार रूप वृक्ष का जो बीज है कार्य रूप जगत् का जो कारण है वही ईश्वर है। इससे सिद्ध हुआ ईश्वर+अस्ति ईश्वर है।

जब ईश्वर है तो जीव का कर्तव्य क्या है? उसका चरम लक्ष्य अन्तिम उद्देश्य क्या है। तब कहना पड़ेगा, सभी जीव चाहते हैं मुझे सुख हो, दुख न हो। अत दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति-अत्यत आनद की उपलब्धि-यही जीव का चरम उद्देश्य है, अंतिम लक्ष्य है। उसी आनद को ब्रह्म कहते है। ब्रह्म ज्ञान होने पर जीव मुक्त हो जाता है, वह जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है। बिना ज्ञान के मुक्ति होती नहीं। अज्ञानी जीव बार-बार जन्मता और मरता रहता है। इस जगत् के एक मात्र कारण ईश्वर हैं उन्हें प्राप्त किये बिना जन्म मरण से छुटकारा नहीं। इसी का नाम ईश्वर वाद या आस्तिक वाद है।

अब दूसरे नास्तिक या अनीश्वरवादी हाते हैं। उनका कहना है, ईश्वर वीश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। परलोक आदि की कल्पना स्वार्थी लोगों ने की है। तीनों वेदो के कर्ता धूर्त, भांड और निशाचर लोग हैं। मूर्खों को ठगने के लिये-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये-कुछ स्वार्थी लोगो ने ईश्वर, परलोक, मुक्ति आदि शब्दों की कल्पना कर ली है। अपना अर्थ साधन करना इस जगत् म यही मुख्य उद्देश्य है। अपना स्वार्थ क्या है खाना पीना और काम वासना की तृप्ति करना। ये कार्य जिस प्रकार सध सकें वे ही कार्य करने चाहिये। हमे जो य पृथ्वी, जल, तेज,

वायु और आकाश पंचभूत प्रतीत होते हैं, जब ये परस्पर में मिल जाते हैं, तो जीव या आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है। जैसे गोबर और मूत्र को मिलाकर रख दो अपने आप विच्छू हो जायेंगे। उसमे ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के परस्पर सयोग से रज और वीर्य के एकत्रित हो जाने से शरीर बन जाता है उसमें जीव उत्पन्न हो जाता है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब वह जीव भी नष्ट हो जाता है। भस्मी भूत देह का पुनर्जन्म नहीं होता। देह नष्ट हुआ आत्मा भी नष्ट हो गयी। जीव का मुख्य उद्देश्य है काम वासना की तृप्ति। जब तक शरीर जीवित रहे तब तक सभी ससार के भोगो को जैसे बने तैसे भोगना चाहिये। यदि घर में घृत न हो तो ऋण लेकर या जैसे मिले तैसे घृत लाकर मालपूए पूड़ी बना-बनाकर खा खाकर शरीर को पुष्ट करना चाहिये। इस चिंता को छोड़ देना चाहिये कि हम किसी का ऋण ले लेंगे और न देंगे तो परलोक मे हमें उसे जाकर चुकाना पड़ेगा। यह मूर्खों की कल्पना है। परलोक नाम की कोई वस्तु ही नही, तो वहाँ जाकर चुकाना कैसे पड़ेगा? फिर वह हो भी तो वहाँ जायगा कौन देह के नष्ट होने पर आत्मा भी नष्ट हो जायगा। देह के जलने पर आत्मा भी जल जायगा। इसलिये ईश्वर, आत्मा, परलोक, शास्त्राज्ञा आदि के झमट मे न पड़कर मौज करो, आनंद लूटो, संसारी सुखों का उपभोग करो। संसार में जो भी वस्तुएँ हैं ये सब हमारे उपयोग के ही निमित्त हैं। हम ही इन सब वस्तुओं के भोक्ता हैं।

इस मत के प्रवर्तक चार्वाक आदि मुनि है। पहिले इन नास्तिक विचारकों के भी बहुत से ग्रन्थ रहे होंगे, कालक्रम से उनके स्वतंत्र विषद ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं होते। हमारे आस्तिक

ग्रन्थो मे कही-कही खडन के लिये उनके उद्धरण मिलते हैं। उपनिषदो मे भी कहा है (अस्त्यैके नायमस्ति तथैके) कोई कहते हैं ईश्वर है, कोई कहते हैं नही है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काड मे दशरथजी के एक मन्त्री जाबालि ने भी ऐसा ही उपदेश श्रीरामचन्द्रजी को दिया था—उसने कहा—"राम! तुम किस चक्कर मे पडे हो। पिता की आज्ञा, पिता की आज्ञा रट रहे हो। कौन पिता कौन माता। राजवीर्य के सम्बन्ध से मनुष्य पैदा होता है। मर गया सो गया। जब तक जीओ सुख से जीओ। मरने पर श्राद्धादि सब ढोंग है। मरे हुए को यहाँ खिलाने पर यदि मिल जाय तो, परदेश जाने वाला भोजन क्यो ले जाय। यही ब्राह्मण को उसके बदले का खिला देंगे। अत जो कुछ है इसी लोक का सुख है। अत भरत के कहने से अयोध्या लौट चलो। खाओ पीयो मौज करो।"

जाबालि की यह बात सुनकर श्रीरामजी ने कहा—"आपका यह उपदेश स्वेच्छाचारी बनाने वाला, धर्म मे विप्लव मचाने वाला मर्यादा को भग करने वाला नास्तिको का है, मैं अपने पिता की निंदा करता हूँ, जिन्होने आप जैसे नास्तिक को अपना याजक बनाया।"

ऐसा ही उपदेश कणिक नामक एक नास्तिक ने महाराज धृतराष्ट्र को दिया था। ये लोग ईश्वर परलोक आदि किसी को नहीं मानते जिसमे कामोपभोग की प्राप्ति हो यही इन नास्तिको के जीवन का चरम लक्ष्य है। भगवान् ऐसे लोगो की निन्दा करते हैं। इनके विचारों को आसुरी सम्पदा के विचार बता कर इनसे दूर रहने का उपदेश करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वाभाव का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन के पूछने पर आगे

कहते हैं—'अर्जुन ! ये आसुरी प्रकृति के लोग इस जगत् को अनीश्वर कहते हैं। अर्थात् इस जगत् की रचना मे ईश्वर की कोई आवश्यकता नही। यह जो वेद शास्त्र पुराण ईश्वर का डिंडिम घोष करते हैं यह सब असत्य है, भूठा है स्वार्थ परक है। ये जो धर्म अधर्म, पाप पुण्य आदि की मर्यादा बाँधते है वह भी प्रतिष्ठा के योग्य नही है। अप्रतिष्ठित है। इस धर्माधर्म की व्यवस्था को कभी नही मानना चाहिये। यह जो शास्त्रकार परलोक का भय दिखाते हैं और कहते हैं परलोक मे जाकर तुम्हें पापो का तथा पुण्यो का फल भोगना पडेगा यह सब सफेद भूठ है। परलोक नामकी कोई वस्तु नहीं। पाप पुण्य नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं। शरीर के नष्ट होने पर जीवात्मा भी नष्ट हो जाता है। अतः ईश्वर और परलोक मनाना पागलपन है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! जब आसुरी सम्पदा वाले नास्तिक लोग ईश्वर का अस्तित्व ही मानेंगे, तो कारण के बिना तो कार्य की उत्पत्ति होती ही नही, फिर ये जगत् का कारण किसे मानते होगे ?

भागवान् ने कहा—"ये नास्तिक लोग जगत् का कारण मानने की आवश्यकता ही नही समझते। इनका कहना है यह जगत् तो दो वस्तुओ के सयोग से स्वत. ही हो जाता है जैसे पुरुष और स्त्री दोनो मे मन में काम वासना उत्पन्न हुई। उस काम वासना से प्रेरित होकर दोनो का सयोग हो गया। उससे ही जीव उत्पन्न हो गया। शरीर बन गया। वे काम को ही जगत् का कारण मानते हैं। जब यह काम से ही उत्पन्न हुआ है, तो कामोपभोग ही इसका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। शरीर के नष्ट होने पर जीव या चेतना भी नष्ट हो जाती है। अत. जब तक जीवे यथेष्ट कामो का उपभोग

करता रहे। उनके मत मे जीव का चरम लक्ष्य भोगो की प्राप्ति ही है। भोगो की प्राप्ति के अतिरिक्त इसका हेतु और कुछ भी नही है। ये जो आस्तिक लोग मानते हैं, इससे इस वस्तु की उत्पत्ति हुई, इससे उसकी उत्पति हुई। पहिले मूल प्रकृति है, फिर विकृति हुई। आकाश हुआ आकाश से वायु वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी। ये सब व्यर्थ की बातें हैं। ये संसार की सब वस्तुयें स्वतः अपने आप हो गयी। काम के अतिरिक्त दूसरी कोई परम्परा नही। सबका हेतु एक मात्र काम है। ये आसुरी प्रकृति वाले काम को सर्वोपरि मानते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे आसुरी प्रकृति के पुरुषो को तो इस ससार मे उत्पन्न ही नही होना चाहिये। ये ईश्वर को भी नहीं मानते, परलोक को भी नहीं मानते, काम को ही सब कुछ समझते हैं, तो इनके उत्पन्न होने का प्रयोजन ही क्या है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ईश्वर बिनु जग भयो नहीं सम्बन्ध जतावें।
असुर प्रकृति के पुरुष काम कूँ हेतु बतावें॥
नहीं प्रतिष्ठा जासु असत है सकल शास्त्र भ्रम।
ईश्वर, धर्म, अधर्म लोक, परलोक व्यरथ श्रम॥
तातें है निश्चिन्त सब, खाओ पीओ सुख करो।
काम वासना पूर्ण करि, मांस तर्स प्रिय उदरहिं भरो॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (३)

[८]

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥*

(श्री भा० गी० १६ अ० ९, १० श्लोक)

छप्पय

ऐसे वे अज्ञान भाव में भावित प्रानी ।
अवलम्बन अज्ञान करें मूरख अज्ञानी ॥
नष्टात्मा मतिमन्द अल्प धी पर-अपकारी ।
उनितें राखें द्वेष होहिं जे पर-उपकारी ॥
बुद्धि रहै तिनिकी मलिन, करें करम वे कूर अति ।
भलो होहि तिनतें न कछु, करें सदा जग को अहित ॥

---

* इस सिद्धान्त को मानकर वे नष्टात्मा अल्पबुद्धि अहितकारी उग्रकर्म करनेवाले केवल जगत् का सत्यानाश करने को ही पैदा होते हैं ॥९॥

वे दम्भी और अभिमानी पुरुष दुष्पूर काम का आश्रय लेकर, मोह द्वारा असत् सिद्धान्तों को ग्रहण करके अशुचि आचरणों से युक्त हुए लोक-व्यवहार करते हैं ॥१०॥

जहाँ काम है वहाँ राम नही रहते, जहाँ राम हैं वहाँ काम की दाल नही गलती। काम मे और राम मे परस्पर बैर है। राम की उपासना मे प्रेम है, त्याग है, अपनापन हैं, सरलता है, शुचिता है। इसके विपरीत काम की उपासना मे द्वेष है, अतृप्ति है, घृणा है, दम्भ है, मान, मत्सर मद तथा अपवित्रता है। ऐसा यह काम लोगो की बुद्धि को विपरीत करता है।

राम अपने पिता के, माता के भाइयो और परिजन पुरजनों के साथ रहते थे, सब उन्हे प्राणो से भी अधिक प्यार करते थे, राजीव लोचन राम सभी के नयनो के तारे थे, वे जगत् के उजियारे थे, सबके रखवारे थे। विश्वामित्र मुनि के निकट कामी असुर आते उनके कार्यो मे विघ्न डालत। इसलिये विघ्न डालते कि उनके मन मे भी कामना थी। कामना वाले को ही काम आकर सताता है, जो अभिमान वश स्वय ही अपने पुरुषार्थ से काम को भगाना चाहता है, उसके काम मे काम आकर विघ्न डालता ही है। जो अपने पुरुषार्थ का अभिमान त्यागकर रामको लाकर अपने यहाँ बिठा लेता है तो राम उसकी रक्षा करते हैं। राम को देखकर काम और कामलोलुप असुर भाग जाते हैं। विश्वामित्र मुनि जब तक अपने अभिमान से प्रयत्न करते रहे, तब तक कही काम का भाई क्रोध आ गया, उसके वशीभूत होकर वसिष्ठजी के पुत्रों को मार डाला त्रिशकु का अविहित यज्ञ कराने, काम का भाई अहंकार आ गया, कही काम ने मेनका भेज दी उससे शकुन्तला हो गयी, कही घृताची आ गयी। जब उन्होने अपना अभिमान छोड़कर राम को लाकर उन्हें अपनी रक्षा का भार सौंप दिया वहाँ सब काम पूर्ण हो गये। कामलोलुप असुर भी भाग गये यज्ञ भी पूर्ण हो गया। राम तो शक्तिशाली पहिले ही

से थे, उनकी शक्ति प्रत्यक्ष प्रकट हो गयी। उनकी शक्ति के प्रभाव से सभी भाई शक्तिवान् बन गये।

काम पुरुषो मे ही घुसकर अनर्थ करता हो सो बात नही, वह स्त्रियों का भी सर्वनाश करता है। वह कुब्जा के और कैकेयी के हृदय मे घुस गया। राम ने सोचा मेरे घर मे काम का प्रवेश हो गया है, अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा। क्योकि राम और काम सग-संग नही रह सकत। राम काम के कारण कानन मे चले गये। वहाँ राम को शक्तिहीन करने कामी रावण दम्भ, मान, मद और कपट का आश्रय लेकर उनकी शक्ति को हर ले गया। शक्ति को क्या ले जा सकता था, शक्ति की छाया को ले गया। राम ने वंश सहित, जाकर उसका नाश कर दिया। काम ऐसे ही क्रूर कार्य कराया करता है।

अब प्रश्न यह है, कि जो काम ऐसे ऐसे क्रूर कार्य कराता है, उसकी उत्पत्ति ही विधाता ने क्यो की ?

विधाता ने काम की उत्पत्ति इसलिये की कि प्रकृति का नियम है, जो उत्पन्न होगा उसका नाश अवश्य होगा। जन्म और मृत्यु का सनातन सग है। मृत्यु होती है प्रमाद से। प्रमाद काम का भाई ही है, अत. कामलोलुप आसुरी प्रकृति के पुरुषो की उत्पत्ति जगत् के नाश के लिये ही होती है। यदि अधर्म और उसकी सताने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर आदि न होत तो जगत् का नाश कैसे होता, राम उत्पन्न ही क्यो होते। राम तो धर्म की सस्थापना के लिये और काम रहित साधु पुरुषो के सरक्षण के लिये उत्पन्न होते हैं। जब अधर्म ही न होगा, तो धर्म की सस्थापना का प्रश्न ही नही उठता। सस्थापना तो उसी की, की जाती है,जो न हो या दुर्बल पड गया हो। और काम रहित साधुओ का सरक्षण तभी समव है, जब उन्हे कामलोलुप असुर आ आकर

नष्ट दें। जब अधर्म बढेगा तभी तो जगत् का नाश होगा। जगत् की रक्षा के लिये ही राम प्रकट होगे। अतः इन असुरो का, आसुरी प्रकृति के जीवो का जन्म जगत् के अहित के लिये तथा साधु पुरुषो को भगवान् पर विश्वास बढ़ाने के ही निमित्त होता है।

जिन साधु पुरुषो का अंतिम उद्देश्य राम की प्राप्ति है, उनका जीवन शान्तिप्रद सुख और निरापद होता है, जिन असुरो के जीवन का एकमात्र उद्देश्य काम ही है वहाँ लूट पाट, चोरी, हिंसा, दम्भ, छल कपट इन्ही सबका बोल बाला होता है। भरत राम के प्रिय थे अत. देवराज भी जिस समृद्धि को तरसते थे ऐसे समृद्धिशाली राज्य की ओर, कामोपभोग की इतनी सामग्रियो की ओर, पिता द्वारा प्राप्त होने पर भी उनकी ओर आँख उठाकर नही देखा, क्योकि उनके जीवन का लक्ष्य राम की प्राप्ति था। वे राम से प्रेम करते थे।

इसके विपरीत जो काम प्रिय है, काम की प्राप्ति ही जिनके जीवन का लक्ष्य है, फिर वह चाहे त्रिलोकेश इन्द्र ही क्यों न हो उसे सदा दूसरो से भय बना रहता है, उसे ब्रह्महत्या, पितृ हत्या, भ्रातृहत्या तक करने मे सकोच नही होता। देवराज इन्द्र से लेकर यवन राजाओ तक काम भोग ही जीवन का लक्ष्य है उनके जीवन पर एक विहगम दृष्टि डालिये। राज्य के लिये किसी ने पिता का वध करके राज्य ग्रहण किया, किन्ही ने भाइयो का वध किया। उनका समस्त जीवन अशान्ति ही मे बीता। उनके द्वारा जगत् का अहित ही हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—"इन आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का जन्म ही क्यो हुआ ?" तब भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहने लगे—"अर्जुन! इन आसुरी प्रकृति

वाले पुरुषों का–धर्म के शत्रुओं का–जन्म जगत् के नाश के लिये ही होता है।"

अर्जुन ने कहा–"जगत् के नाश की क्या आवश्यता है ?"

भगवान् ने कहा–"यह तो सनातन नियम है जो उत्पन्न होगा, उसका नाश भी अवश्य होगा। जब यह जगत् उत्पन्न होता है तो उसका विनाश भी आवश्यक है। इन आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों के कृत्यों से ही जगत् का विनाश होता है।"

अर्जुन ने पूछा–"ये जगत् के विनाश के हेतु भूत ऐसे कौन-कौन से कार्य करते हैं।"

भगवान् ने कहा–"बात यह है, कि ये आसुरी प्रकृति के पुरुष परमेश्वर, परलोक, शास्त्र, वेदादि को तो मानते नहीं। कामोपभोग को ही परम पुरुषार्थ मानते है अतः इस दृष्टि का आश्रय लेकर ये परलोक सम्बन्धी जितने यज्ञ, दान, तपादि साधन हैं, उन साधनों से तो पतित हो जाते हैं। इनकी बुद्धि विशाल तो होती नहीं, क्योंकि काम भोग तो अल्प सुख है, ब्रह्म-सुख महान् सुख है। अल्प मे शांति सुख होता नहीं। काम को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानने के कारण इनकी बुद्धि अल्प हो जाती है। फिर ये काम प्राप्ति के लिये हिंसा, व्यभिचार, लूट पाट आदि उग्र कार्यों को करते रहते है। इस प्रकार इनके समस्त कार्य संसार के अहित के ही निमित्त होते हैं। मर कर भी ये क्रूर कर्मा प्राणियों को क्लेश पहुँचाने वाले सिंह व्याघ्र, सर्प, बिच्छू आदि क्रूर कर्मा होते हैं। फिर कदाचित् मनुष्य योनि मे भी आते हैं तो जन्म से ही क्रूर कर्मों मे इनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा–"मनुष्य योनि मे प्राणियों का अहित किस प्रकार कर सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, इनका मुख्य उद्देश्य होना है, कामोपभोग। ये काम की वासनायें इतनी दुष्पूर है, कि इनकी कभी शांति होती ही नही इनका जितना ही उपभोग करो उतनी ही इच्छाये और बढती ही जाती हैं। जब इच्छानुसार काम सामग्रियाँ प्राप्त नही होती तो दम्भ का आश्रय लेते है। विद्वान नहीं हैं फिर भी अपने को विद्वान् प्रकट करते हैं। महात्मा नहीं है फिर भी दूसरो को ठगने के लिये अपने को महात्मा प्रकट करते हैं। इसी का नाम दम्भ है। इससे अभिमान बढता है अपने को औरो से श्रेष्ठ समझने लगते हैं। इससे मद हो जाता है। मद मे मदमाते बनकर औरो का तिरस्कार करने लगते है। अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तो को ग्रहण करके उनका प्रचार प्रसार करते है, शास्त्र विरुद्ध आचरण करते हैं। मोहवश असद् बातो का आग्रह करते हैं। वे व्रत अनुष्ठान से रहित होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"इन आसुरी प्रकृति वालो का कोई तो व्रत होता ही होगा।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, इन लोगो का एक ही व्रत होता है अशुचि रहना। स्मशान मे क्षुद्र देवताओ की उपासना करते हैं। मृतकों का मास, सुरा का सेवन करते हैं। जहाँ तहाँ खा लेते हैं, इन्हें उच्छिष्ट अनुच्छिष्ट का कोई विचार नहीं होता। ये काम भोग जैसे अधिकाधिक प्राप्त हो सकें, इसी के लिय प्रयत्नशील रहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अभी भगवान् आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वभाव के सम्बन्ध मे और भी बहुत सी बातें बतावेंगे, उन सबको मैं क्रमश आप सबको बताऊँगा, इन सबके बताने का एक मात्र हेतु यही है, कि दैवी प्रकृति के साधकों को इन बातो से सदा बचते ही रहना चाहिये। फूँक-फूँक कर पैर

रखना चाहिये, कि कहीं अज्ञान में भी आसुरी सम्पद् की कोई बात हमारे जीवन मे न आने पावे।"

छप्पय

करें सदा ही दम्भ साधु को वेष बनावें।
मद में बनि उन्मत्त मान हित वे मरि जावें॥
करें कामना व्यरथ नहीं जो पूरी होवें।
गहि मिथ्या सिद्धान्त आयु सब व्यरथहिं खोवें॥
जिनि को व्रत ही है अशुचि, सकल आचरन भ्रष्ट हैं।
विचरत सब ससार में, सदाचार तें नष्ट हैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (४)

[६]

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

चिन्ता में नित मग्न अन्त जिनिको नहिँ होवैं ।
रहैं मृत्यु परियन्त दुखित चिन्तित नितरोवैं ॥
भोगें भोगनि सतत होहि नहिँ तृप्ति कबहुँ तिन ।
भोगनि कूँ ही सार समुझि सेवत हैं निशि दिन ॥
इन्द्रिनि के जो विषय हैं, वे मिलि जावैं तो मुदित ।
है सुख इतनो ई जगत, निश्चय यह मानत सतत ।

---

* वे प्रलय पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं में डूबे हुए तथा कामोपभोगो मे ही लिप्त रहते हैं। वे मानते हैं ससारी भोग ही सब कुछ हैं ॥११॥

सैकडो आशाओं की पाश से बँधे हुए वे काम, क्रोध मे परायण केवल विषय भोगों की पूर्ति के ही निमित्त अन्याय से धनादिको को सचित करने की चेष्टा करते हैं ॥१२॥

कितना भी बड़ा गड्ढा हो, प्रयत्न करने पर समय पाकर वह भी पाटा जा सकता है, उत्कट प्रयत्न करने पर अगाध अपार कहा जाने वाला समुद्र भी शोषा जा सकता है, किन्तु यह तृष्णा-रूपी महान् गढहा कभी भी नही पाटा जा सकता। यह तृष्णा-रूपी सागर के पार आज तक कोई भोगी नही जा सका। कामो-पभोग की तृष्णा ऐसी है जिसकी पूर्ति कभी होती नही।

एक आदमी अत्यन्त ही दुखी था। उसको ससार मे कोई भी सुख नही था, खाने को कभी भरपेट अन्न नही मिलता था। एक बार यमराज से उसकी भेंट हो गयी। यमराज ने कहा—"अरे, तू यहाँ इतने क्लेश क्यों उठा रहा है, मेरे साथ मेरे लोक में चल, वहाँ इन सब चिंताओं से छुटकारा पा जायगा।"

उस आदमी ने कहा—"यमराज! मुझे आपके लोक में चलने में कोई आपत्ति नही, किन्तु मैं उस सुख का अनुभव करना चाहता हूँ, कि लोग दोनों समय पेटभर के अन्न खाकर किस प्रकार सुख की नीद सोते है।"

यमराज ने कहा—"अच्छी बात है, कल से तुम्हें दोनों समय सुन्दर स्वादिष्ट पेट भर के भोजन मिला करेगा।"

यह कहकर यमराज चले गये। थोड़े दिनों के पश्चात् यमराज पुनः आये उन्होने कहा—"अब तो तुम्हे अनुभव हो गया, कि दोनों समय पेट भर के अन्न खाकर सोने मे क्या आनन्द है, अब तो तुम इस सुख का उपभोग कर चुके, अब मेरे लोक को मेरे साथ चलो।"

तब उसने कहा—"दोनो समय पेट भर कर भोजन तो मिल जाता है, किन्तु दूसरो के द्वार पर अपमान पूर्वक मिलता है, अब मेरी दो इच्छायें और हैं।

यमराज ने पूछा—"वे दो इच्छायें कौन-कौन सी हो हैं?"

उसने कहा—"मुझे अपने ही घर पर सम्मान पूर्वक भर पेट भोजन मिले।"

यमराज ने कहा—"अच्छा ऐसा ही होगा।"

यह कह कर यमराज चले गये। कुछ दिन पश्चात् पुनः यमराज ने चलने को कहा, तब उसने कहा—"बस, अब मेरी चार इच्छायें और हैं। घर तो बन गया। परन्तु घर वाली के बिना घर कैसा "न गृह गृहमित्याहु गृहिणी गृहमुच्यते।" घर की सार्थकता तो घर वाली से है। अतः मुझे घर वाली मिल जाय। वह सुन्दरी हो सुशीला हो, मेरी आज्ञाकारिणी हो और घर के कामों मे दक्ष हो।" यमराज ने कहा अच्छा ऐसा ही होगा।

कुछ दिन पश्चात् पुनः यमराज आये उन्होंने कहा—"भाई अब तो सब कुछ सुख पा लिया गृहस्थ सुख का अनुभव कर लिया, अब तो चलो।"

उसने कहा—"मैं चलने को तैयार हूँ, केवल आठ इच्छायें मेरी और हैं। (१) व्याह का फल संतानें हैं, अतः मेरे १० लड़के १० लडकियाँ हो जायें। (२) वे सभी सुन्दर सुशील हों (३) उनके निर्वाह के लिये यथेष्ट धन हो। (४) मेरा शरीर निर्बल होने लगा है उसमें यथेष्ट बल आ जाय (५) आजकल मुझे पेट का रोग हो गया है, वह दूर हो जाय, (६) घर मे कोई वाहन नहीं है एक घोड़ा हो जाय। (७) एक आदमी ने घर के ऊपर एक अभियोग चला दिया है उसमे मेरी जीत हो जाय। (८) एक मेरा शत्रु हो गया है वह नष्ट हो जाय।"

यमराज ने कहा—"अच्छा ऐसा ही होगा।"

कुछ दिन पश्चात् फिर यमराज आये और बोले—"अब तो सब कुछ देख सुन लिये समस्त कामोपभोगों का सुख लूट लिया अब तो चलो।"

तब वह निराश होकर बोला—"अजी, महाराज अब चलने का अवसर कहाँ हैं ? लड़कियों के विवाह की चिंता आठों प्रहर लगी रहती है, लड़के भी अभी कुमारे हैं। छोटे लडके पढे नहीं। बड़े मूर्ख निकल गये, वे नित्य लडाई करते हैं। एक के स्थान पर सैकडों राज द्वार में अभियोग चल रहे हैं। घोड़ी बीमार हो गयी है, गौ ब्याई थी, उसकी बछिया मर गई है, एक अन्न का व्यापार किया था, उसमे घाटा हो गया है। शरीर में एक नहीं अनेकों व्याधियां उत्पन्न हो गयी हैं। भोजन पचता नही, नींद आती नही, खासी की प्रबलता है, बिना हाथ टेके उठ नही सकता, कमर झुक गयी है, बाल सब सफेद हो गये हैं। जो मित्र थे, वे शत्रु बन गये हैं, संसार में कृतज्ञता तो रही ही नही। जीवनभर जिनके साथ उपकार किया वे ही मारने को घूम रहे हैं। लड़का लड़की लाजी-लाजी कहकर लालाजी-लालाजी पुकारती हैं। जीवन भर देते रहो, एक दिन न दो तो पिछला किया कराया सब स्वाहा। जो आता है कोइ न कोई स्वार्थ लेकर ही आता है, निस्वार्थ कोई दिखाई ही नही देता। इतनी चिंतायें घेरे रहती हैं कि मन सदा सर्वदा अशान्त बना रहता है। पहिले धन नही था, धन की चिन्ता लगी रहती थी, जब धन आ गया तो उसे बढाने की सर्वदा चिंता लगी रहती है, बढे हुए धन की रक्षा की चिन्ता रात्रि दिन सताती रहती है। कहीं राजा को पता चल गया तो राजकर न लगा दे, अतः धन को गुप्त रखने की चिन्ता, कहीं चोर न ले जायँ उसकी चिन्ता, कहीं आग न लग जाय उसकी चिन्ता, तन की, मन की, धन की, स्वजन परिजनों की, स्त्री, पुत्र, पुत्री परिवार की, भूमि बाग बगीचा की, वाहन पशु पक्षियों की, बलवान् शत्रुओं की, नीच पुरुष निन्दकों की, सगे सम्बन्धियों की न जाने कितनी अगणित

चिन्तायें रात्रि दिन व्यग्र बनाये रहती है ये चिन्तायें उत्तरोत्तर बढती ही जाती हैं, इनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय नही। "महाराज, मुझे आपके साथ चलने का अभी तनिक भी अवकाश नही, मुझे क्षमाकर दीजिये।" जब चिन्तायें कम हो जायँगी, मेरी सभी इच्छाये पूर्ण हो जायँगी, तब आपके साथ चलने की बात पर निश्चिन्त होकर विचार करूँगा।"

यमराज ने कहा— 'ये चिन्तायें कभी भी कम न होगी, अपितु उत्तरोत्तर बढती ही जायँगी। चाहें जितने भोगो को भोगते जाओ इच्छाये कभी पूर्ण नही होने की, भोगेच्छाओ का कभी अन्त नही। आशाये कभी पूरी नही होने की। धन से कभी भी तृप्ति नही होने की। और मेरे साथ जाने को आप स्वेच्छा से कभी भी तैयार न होगे। पहिले तो कहते थे, अब चलूँगा, तब चलूँगा। अब कहते हो, समस्त इच्छाओ की पूर्ति होने के अनन्तर भी चलूँगा नही। इस विषय पर विचार करूँगा। सो, तुम इच्छा से नही चलते हो, तो मैं तुम्हे बलात् अपने साथ लिये जाता हूँ। चिन्तायें तो अपरिमित हैं इनका अन्त नही। लो, मैं तुम्हे बल पूर्वक लिये जाता हूँ।" ऐसा कह कर यमराज उसे अनन्त आशाओ और भोगेच्छाओ के साथ ही ले गये। ये आशाये और भोग वासनाये ही उसे वार-वार जन्म लेने और मरने के लिये विवश करती है, जहाँ यह भाँति-भाँति की यातनाओ को उठाता रहता है फिर भी यह कामी उनसे उपराम नही होता। पुन-पुन जन्म लेता है, मरता है, और नाना यातनाओ को झेलता है।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों के स्वभाव का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से आगे कह रहे हैं—"अर्जुन! ये आसुरी प्रकृति के पुरुष अनन्त चिन्ताओ में

सदा निमग्न बने रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ये सब की सब चिन्तायें इस प्राणी की कभी पूरी भी होती हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ये अपरिमित चिन्तायें मरण पर्यन्त भी कभी पूरी नहीं होती। ये आसुरी प्रकृति के पुरुष अनन्त चिन्ताओ मे ही घुल घुलकर अन्त मे इनको साथ लिये हुए ही मर जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ये इतनी चिन्तायें क्यो किया करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"इसलिये करते हैं, कि ये इन संसारी दीखने वाले विषय भोगो को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। वे कहते हैं, संसारी सुख ही वास्तविक सुख है। यही सर्वस्व है यही सब कुछ है। शरीर का अन्त हो जाने पर फिर कोई भोक्ता ही न रहेगा।"

अर्जुन ने कहा—"जो लोग विषयो का उपभोग करते हैं उनकी इच्छा बढ जाय, तो एक बात भी है, किन्तु जिन्होने बहुत से काम भोगों का उपभोग भी नही किया है, वे दुखी क्यों रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"जो विषयों का उपभोग करते हैं उनको अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है, उनकी अपार तृष्णा की पूर्ति नही होती अतः वे तो इसलिये दुखी होती हैं ओर जिन लोगों ने बहुत से भोग भोगे नही हैं, दूसरों को उन्हें भोगते हुए देखते हैं, तो उनके मन में भी उन्हें भोगने की आशा जागृत हो जाती है, वह आशा ही उनके लिये दुःख की फसरी बन जाती है, एक प्रकार का आशा का पाश रूप जाल बन जाता है, उस जाल मे जकड़े हुए आशा रूप पाश में फँसे हुए वे छटपटाते रहते हैं। जब उनकी कामना की पूर्ति नही होती तो उनके हृदय में क्रोध उत्पन्न हो

जाता है। वह तो हमसे छोटा होने पर भी उतने भोग्य पदार्थों का उपभोग कर रहा है, हम इनसे वंचित क्यों रहें। सोचते-सोचते उसकी बुद्धि में यह बात आती है, कि उसके पास धन अधिक है। हम भी धन क्यों न एकत्रित करें। उसने धन अन्याय से एकत्रित किया है, अतः मैं भी अन्याय से ही धन राशियों को एकत्रित करने का प्रयत्न करूँ।" अतः वह अन्याय से धन एकत्रित करने का प्रयत्न करता है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! ये काम क्रोध परायण कामी पुरुष क्या सोचते रहते होंगे। धन की तृष्णा से अभिभूत ये पुरुष क्या विचारते रहते होंगे। कैसे-कैसे मनो राज्यों की कल्पना करते रहते होंगे ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् अब उस मनो राज्य का वर्णन करेंगे जिसकी कल्पना आसुरी प्रकृति के पुरुष करते रहते हैं।"

छप्पय

आशा-फँसरि अमित बँधे तिनि में अज्ञानी।
भोई कूँ सब बिषय मिलैं मन में यह ठानी॥
चिन्ता कामनि करैं काम कूँ सब कछु मानें।
क्रोध परायन होहिँ शत्रु सबई कूँ जानें॥
विषय भोग भोगनि निमित, करैं अर्थ अन्याय तैं।
चेष्टा संग्रह करन की, दूर रहें नित न्याय तैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (५)

[१०]

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥*

(श्री भा० गी० १६ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

साच यह मिलि गयो आज धन मोकूँ भाई ।
अबकें करूँ प्रयत्न बहुत-सो फिरि मिलि जाई ॥
आज मनोरथ पूर्ण भया यह वस्तु मिली अब ।
वह मिलि जावै काल्हि होंहि इच्छा पूरी तब ॥
इतनो धन मम पास है, अब हू, कछु इच्छा रही ।
इतनो कलि ह्वै जाइगो, आयु सकल सोचत गई ॥

---

* वे सोचते रहते हैं—ये मैंने आज उपलब्ध कर लिए । इस मनोरथ को कल प्राप्त करूँगा । यह धन तो मेरे पास है और फिर होवेगा ॥१३॥

यह शत्रु तो मैंने मार डाला अब दूसरों को भी मार डालूँ ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ ॥१४॥

एक तो स्वप्न होता है, एक माया होती है, और एक मनोरथ होता है। इन तीनो मे वस्तुएँ नही होती, किन्तु प्रत्यक्ष की भाँति अनुभव होता है। जाग्रत और सुषुप्ति के बीच की एक अवस्था होती है। उसमे न तो मनुष्य खूब प्रगाढावस्था मे सोता ही रहता है न जागता ही रहता है। कुछ सोता हुआ कुछ जागता-सा रहता है उसी अवस्था का नाम स्वप्नावस्था है। उसमे आदमी सोता तो रहता है प्रयाग मे, और उसे दृश्य बम्बई कलकत्ते के दीखते हैं। कभी राजा बन जाता है, उसे हाथी, घोडा, ऊँट, बछेडा, रथ बाहन सब प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। अपने को भोग भोगता हुआ देखता है। कोई मारता है, दन्ड देता है, तो दुख होता है चदन, इत्र, माला बनिता की प्राप्ति मे हर्ष और सुख का अनुभव प्रत्यक्ष की भाँति करता है, किन्तु वास्तव मे जिन वस्तुओ को वह देखता है, वे सब मिथ्या हैं, उनका अस्तित्व नही। आँख खुलने पर वही अपने को शैया पर पडा पाता है।

मायावी पुरुष जो वस्तु नही है, उसे ही माया से प्रकट करके प्रत्यक्ष दिखा देत है, आम का समय नही है, आम बनाकर दिखादेंगे चखादेंगे, रुपया नही है, रुपये मंगा देंगे, ढेर लगा देंगे। यदि उन् पर ढेर रुपये होते तो वे एक पैसा क्यो माँगते फिरते। इसलिये माया से जो वे वस्तुएँ दिखाते हैं, सब असत् हैं।

एक मनो राज्य होता है, एकान्त मे बैठकर मन के लड्डू खाता रहता है मन के रथ पर चढकर नाना भाँति के मनोरथ करता रहता है, मैं यह करूँगा, वह करूँगा। एक लडका एक सेर दूध एक हाडी मे बेचने जा रहा था, वह सोचता जाता था, यह दूध बिक जायगा, तो चार आने के आम मोल लूँगा। उन्हे गाँव मे जाकर बेच आऊँगा। चार आने के आठ आने हो जायँगे। आठ आने की जामुन खरीदूँगा। उन्हे बेचूँगा तो एक रुपया हो जायगा।

एक रुपये का गुड खरीदूंगा। उसे बेचकर दो रुपये की मिठाई खरीदूंगा। पेडे रखकर थाल मे ले जाऊंगा। इतने में ही एक कुत्ता आया। उसे देखकर वह भगा। दूध का वर्तन सिर से गिरा फूट गया। वह रोने लगा मेरे सब पेडे नष्ट हो गये।

एक बुद्धिमान आदमी ने उसके रोने का कारण पूछा तो उसने पेडो की बात बताई।

आदमी ने कहा—"यहाँ तो एक भी पेडा नही। दूध फैला हुआ है।"

लडके ने अपने मनोरथो की बातें बताई तब उस आदमी ने कहा—"वे मनोरथ के पेडा मिथ्या थे, उनके लिये मत रो। आँख बंद करके फिर चाहे जितने ऐसे पेडो की कल्पना कर सकता है।"

मन के रथ पर चढकर भ्रमण करने वाले बड़ी-बडी कल्पनायें करने लगते है। यह हो जायगा तो मैं यह कर डलूंगा वह कर डालूंगा। इस प्रकार वे मन के मोदक खाते रहते हैं। आसुरी प्रकृति के पुरुष ही मिथ्या मनोरथों को बहुत करते हैं।

कालनेमि जो असुर था, उसे देवासुर सग्राम मे भगवान् विष्णु ने मार डाला था, उसका जीवात्मा आकाश मे भ्रमण कर रहा था। एक समय मथुरा नरेश महाराज उग्रसेन की पत्नी अपने पिता के यहाँ स्वेच्छा से सखियो सहित विचर रही थी। उसी समय गोमिल नाम का एक मायावी असुर काम के वशीभूत होकर वहाँ आया। वह उसके सौदर्य को देखकर आसक्त हो गया। उसने माया से महाराज उग्रसेन का रूप बनाकर उससे संगम किया उसी समय कालनेमि का जीवात्मा उसके उदर मे प्रवेश कर गया। उसी से कंस पैदा हुआ। कस पूर्वजन्म मे कालनेमि नाम का असुर ही था। अतः वह भी आसुरी प्रकृति

के पुरुषों के समान मिथ्या मनोरथ किया करता था। जब अपने पिता को बलपूर्वक गद्दी से हटाकर उन्हें कारावास में डालकर स्वयं राजा बन गया और माथुर तथा शूरसेन देशों पर शासन करने लगा, तब एक दिन नारदजी आये। उन्होंने सब बता दिया नन्द के यहाँ जो बलराम और कृष्ण पल रहे, वे नन्द के पुत्र न होकर वसुदेवजी के पुत्र हैं, तेरे काल हैं, तब उसने अक्रूरजी को बुलाकर उनसे अपने मनोरथों की गाथा सुनाई।

बडे प्रेम से अक्रूरजी को बुलाकर कंस ने स्वार्थवश अपना समस्त बनावटी प्रेम उनके ऊपर उडेल दिया। बड़े ही स्नेह से उनके हाथ को अपने हाथ में लेकर उसे धीरे-धीरे प्यार से दबाते हुए कहने लगा—हे दानपते अक्रूरजी! आप दानियों में श्रेष्ठ हैं परम उदार हैं। आपकी बुद्धि का क्या कहना है आप तो बुद्धिमानों मे अग्रगण्य हैं, मेरे तो आप सम्बन्ध मे, बुद्धि से, गुणों से सब प्रकार से परम आदरणीय हैं। आपसे मेरा एक बहुत बडा काम है, आप उसे कर दें तो आपकी बडी कृपा हो।

अक्रूरजी ने कहा—"राजन्! ऐसा कौन-सा कार्य है, मेरे करने योग्य होगा, तो उसे मै अवश्य कर दूँगा।"

कंस ने कहा—"वह कार्य आपके ही करने योग्य है, आपके अतिरिक्त दूसरा कोई उसे कर ही नही सकता। बात यह है, मित्रों मे ही अपने मन का दुख सुख कहा जा सकता है। मै देखता हूँ भोजवशी और वृष्णिवंशी यादवों में आप से बढकर मेरी भलाई करने वाला दूसरा कोई और है ही नही। जिस काम को मै कराना चाहता हूँ, वह काम बहुत बडा है यद्यपि मै बहुत सामर्थ्यशाली हूँ, किन्तु जैसे इन्द्र समर्थ होने पर भी विष्णु की सहायता बिना कुछ भी नही कर सकता। इसी प्रकार मै भी आपकी सहायता के बिना कुछ भी नही कर सकता।"

अक्रूरजी ने कहा—"पहिले कार्य तो बताइये मुझे करना क्या होगा ?"

कंस ने कहा—"यह बहुत गुप्त बात है, किसी के सम्मुख प्रकट करने की नहीं। आप नन्दजी के व्रज मे जायँ, वहाँ पर राम और कृष्ण नाम के वसुदेवजी के दो पुत्र रहते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार फुसलाकर यहाँ ले आओ। मेरा अपना निजी रथ लेते जाओ, उसी पर बिठाकर उन्हें जसे बने तम ले आओ।"

अक्रूरजी ने पूछा—'क्या करोगे, उन दोनों बालकों का ?"

कंस ने धीरे स उनके कान मे कहा—"देवताओं ने विष्णु से सम्मति करके उन्हें मेरी मृत्यु का कारण निश्चित किया है। अतः यज्ञ देखने के बहाने स नन्दादि समस्त गोपों सहित उन्हें यहाँ ले आओ।"

अक्रूर ने पूछा—"यहाँ बुलाकर उनका क्या करोगे ?"

कंस ने चारों ओर शंकित दृष्टि से देखकर शनैः-शनैः कहना आरम्भ किया—मै उन्हें यहाँ बुलवाकर मरवा डालूँगा। मैंने उनकी मृत्यु के बड़े-बड़े विधान बना रखे हैं पहिले तो उन्हें कुवलयापीड हाथी मे ही मरवा डालूँगा। यदि हाथी से कदाचित बच गये, तो मेरे बड़े-बड़े मुष्टिक चाणूर, शल तोषल आदि नामी-नामी मल्ल हैं, उनके द्वारा मरवा डालूँगा। उनके मरते ही हमारी चाँदी ही चाँदी है। उनके मरते ही वसुदेव तथा दूसरे उनके सम्बन्धी शोकाकुल होकर आपसे आप ही मर जायँगे। न मरेंगे तो मैं उन्हें अपने हाथों मे मार डालूँगा। मेरा बूढ़ा बाप भी मुझसे बड़ा द्वेष रखता है, वह भीतर ही भीतर मेरे शत्रुओं से मिला रहता है, उसे भी मै मार डालूँगा। बस, ये ही सब हमारे बीच मे कंटक है। जहाँ ये मरे कि फिर हमारी तुम्हारी आनन्द से छना घुटा करेगा। फिर हमारा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

संसार में सबसे श्रेष्ठ शूरवीर जरासंध तो मेरे सगे ससुर ही हैं, उनसे तो कोई भय की बात ही नहीं। द्विविद वानरराज मेरा मित्र है, शम्बरासुर, बाणासुर, नरकासुर से सब मेरे सुहृद् ही हैं, इन सबकी सहायता से मैं निष्कंटक पृथ्वी का एक छत्र राजा बन जाऊँगा, और तुम्हे ही अपना सच्चा सहायक बनाऊँगा। आपको अपना परम हितैषी समझकर ही मैंने अपनी समस्त गुप्त योजनायें आपको बतादी हैं। वहाँ इन बातों को प्रकट करने की आवश्यकता नही। उन्हें तो आप यज्ञ दिखाने के बहाने ही लिवा लाव। यहाँ आने पर अपनी समस्त योजनाओं को सफल कर लेंगे।"

इस पर अक्रूरजी ने इतना ही कहा—"राजन्! आपने-अपने मन से जो सोचा होगा अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक ही सोचा होगा। यह मनुष्य बड़े-बड़े मनोरथों के पुल बाँधता रहता है। परन्तु उसे दवेच्छा—प्रारब्ध भोगों–का पता नही रहता कि दैव क्या करना चाहता है। कभी तो मनुष्य का सोचा सत्य हो जाता है, कभी मनोरथ, मनोरथ ही रह जाते हैं, समस्त योजनायें असफलता के गर्त में गिर जाती है। जो भी हो मै आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ही।"

बात यह है, कि ये आसुरी प्रकृति के पुरुष रात्रि दिन मनोरथो पर मनोरथ करते ही रहते हैं। मन के मोदक खाते ही रहते हैं। दैव इनके मनोरथों का विफल बनाते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् आसुरी प्रकृति के पुरुष क्या सोचते रहते हैं, उसका वर्णन करते हुए भगवान् कहते है—' अर्जुन! ये आसुरी प्रकृति के क्रूर पुरुष रात्रि दिन यही सोचते रहते हैं—"आज मैंने अपने प्रबल पुरुषार्थ से यह धन तो प्राप्त कर लिया। इसे पाने की दूसरे की

सामर्थ्य नहीं थी, मैंने अपनी बुद्धि से सोचकर ऐसे अमोघ उपाय किये कि वह धनराशि मुझे मिल ही गयी। अब मेरे मन पर अमुक धन और चढ़ा है, उसे प्राप्त कर लूँ तो मेरा मन सन्तुष्ट हो जाय। उसे भी मैं अपने बुद्धिबल से अवश्य ही प्राप्त कर लूंगा। यह धन तो आ ही गया, यह तो मेरा हो ही गया, अब उसकी ही कसर और है सो उसे भी निश्चय ही मै प्राप्त कर लूँगा। परन्तु एक बात है, मेरे मनोरथो मे अमुक आदमी विघ्न डालता था, उसे तो मैंने मृत्यु के घाट उतार दिया। अब वे कुछ लोग और रह गये हैं, वे मेरे कार्यो मे रोड़ा अटकाते हैं। वे मेरी सफलता के पथ के कंटक बने हुए हैं। उनको भी मारकर-उन्हें भी मृत्यु के घाट उतारकर-अपने पथ को निष्कटक बना लूँगा। मेरा विरोध करके कोई जीवित बच जाय, यह असभव है। सबको मार गिराऊंगा, सभी को यमपुरी का द्वार दिखाऊंगा। तुम पूछ सकते हो, कि आप इतने सब प्रबल प्रतापी शत्रुओ को एक साथ कैसे मार सकते हो?" तो तुम मेरी ओर से निश्चिन्त रहो। अभी तुम मेरे प्रबल पराक्रम और असहनीय तेज के सम्बन्ध में अपरिचित हो। देखो, मै ईश्वर हूँ, सर्व सामर्थ्यवान् हूँ, मेरे समान कौन हो सकता है, मैं उसे हाथो से मसल दूँगा, पत्थर पर पटक कर चकनाचूर कर दूँगा, पैरो तले रौंद दूँगा, तब देखना मेरे ठाठ, वह मेरे सामने किस खेत का बथुआ है, वह किस खेत की मूली है, मै समस्त भोग सामग्रियो से सम्पन्न हूँ, मेरे मनोरथ सिद्ध हो चुके हैं, मैं पुत्र पौत्र भृत्य आमत्यो से सम्पन्न हूँ। मैं ओजस्वी तेजस्वी साहसी तथा बलवान हूँ। मैं स्वस्थ हूँ, नीरोग हूँ, सुखी हूँ समस्त साधनो से सम्पन्न हूँ, मेरी बराबरी कर ही कौन सकता है।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! ये आसुरी प्रकृति के पुरुष और

भी जो अभिमान में भर कर पागलों का-सा प्रलाप करते रहते हैं, उसका वर्णन जो भगवान् और करेंगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

मारयो मैंने शत्रु दुष्ट यह अति अभिमानी।
कछु शत्रु हैं शेष कालिह उनहू को जानी॥
मोतें नहिं अब बचें कालिह मारूँगो उनकूँ।
ईश्वर हूँ हौं बड़ो बात है विदित न तिनिकूँ॥
भोगी हूँ हौं अति प्रबल, सिद्ध और धनवान हूँ।
कौन सुखी है मम सरिस, हौं अतिई बलवान हूँ॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (६)

[११]

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

बड़ो धनी अति धनिक कौन मम सम धनधारो।
मेरो बड़ो कुटुम्ब बहुत मैं हूँ जनधारो॥
को है मेरे सरिस दान दुखियान को दुऊँ।
आ जावै धन बहुत यज्ञ इक विषद करूँ॥
करि आमोद प्रमोद बहु, होवै हरषित मन हियो।
मोहित है अज्ञान महँ, जिनि ऐसो निश्चय कियो॥

* मैं धनाढ्य हूँ, परिवार वाला हूँ, मेरे समान दूसरा हो ही कौन सकता है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, हर्षित हूँगा। इस प्रकार वे आसुरी प्रकृति वाले, अज्ञान से विमोहित रहते हैं ॥१५॥

भांति-भांति के भ्रमित चित्त वाले वे मोह रूप जाल मे फँसे हुए तथा काम भोगों मे आसक्त हुए, अत्यन्त अपवित्र नरकों म जाकर गिरते हैं ॥१६॥

यह अहंकार इतना बलवान् है, कि जिस काम के करने से भी प्रतिष्ठा की सम्भावना हो, अहंकारी पुरुष उसे ही करने को उद्यत हो जाते हैं। जहाँ आस्तिक बनने से प्रतिष्ठा होती हो, वहाँ ये बड़े भारी आस्तिक ईश्वर भक्त बन जायँगे। जहाँ नास्तिक बनने से प्रतिष्ठा होती हो, वहाँ वे सबसे बड़े नास्तिक बन जायँगे। जहाँ मर्यादा में रहने से प्रतिष्ठा होती हो, वहाँ नहा धोकर तिलक छापे लगाकर रेशमी वस्त्र पहिनकर मर्यादा के साथ भोजन करेंगे। जहाँ स्वेच्छाचरिता, आचार भ्रष्टपने से बड़ा बनने का अवसर हो, वहाँ ये अपने को प्रथम श्रेणी का स्वेच्छाचारी सिद्ध कर देंगे। जहाँ यज्ञ यागादि करने से बड़प्पन प्राप्त होता हो, वहाँ धन को पानी की भाँति बहाकर बड़े-बड़े दम्भ यज्ञों की रचना करने में भी चूकेंगे नहीं। फिर चाहे उन्हें यज्ञ यागादि में तनिक भी श्रद्धा न रही हो।

नारद जी ने जब धर्मराज युधिष्ठिर से कहा, कि राजन्! मैं स्वर्ग में गया था, वहाँ तुम्हारे पिता पांडु मुझे मिले थे। देवराज इन्द्र के समीप उनकी बराबर केवल महाराज हरिश्चन्द्र ही बैठे थे, और सब लोग सभासदों की भाँति नीचे बैठे थे।

धर्मराज ने पूछा—"महाराज हरिश्चन्द्र को ही ऐसा गौरव किस कारण मिला।"

नारद जी ने कहा—"राजन्! उन्होंने समस्त पृथ्वी को अपने वश में करके राजसूय नाम का महान यज्ञ किया था। चलते समय तुम्हारे पिता पांडु ने मुझसे कहा था—"हे ऋषिश्रेष्ठ! आप मेरे ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर से कह दें कि, अपने भाइयों की सहायता से समस्त पृथ्वी को जीत कर वे राजसूय यज्ञ अवश्य करें, जिससे हमें भी स्वर्ग में हरिश्चन्द्र के समान इन्द्र के बराबर बैठने का सम्मान प्राप्त हो सके।" ॥२१॥

पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके धर्मराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। उन्होंने मान सम्मान के लोभ से, किसी के प्रतिद्वेष भाव रखकर अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने के लिये अहंकार पूर्वक यज्ञ का निश्चय नहीं किया था। उन्होंने तो परम सात्विक भाव से पिता की आज्ञा मानकर, भगवान् की पूजा करने के भाव से, आस्तिक बुद्धि से, अहंकार रहित होकर विनीत भाव से यज्ञ किया था। अपने प्रस्तावित यज्ञ के सम्बन्ध में भगवान् श्री कृष्ण से आज्ञा लेते हुए उन्होंने आँखों में आँसू भरकर अत्यन्त नम्रता से कहा—'हे गोविन्द ! मैं आपके परम पावन विभूति स्वरूप जो देवता हैं। जैसे सूर्य चन्द्र आपके चक्षु है, धर्म आपके वक्ष स्थल हैं, इन आपके अंग भूत देवताओं का राजसूय नामक सर्व श्रेष्ठ यज्ञ द्वारा पूजन करना चाहता हूँ, यदि आप कृपा कर दें तभी मेरा यह संकल्प पूरा हो सकता है।"

भगवान् ने कहा—"राजन् ! आप इतने समृद्धशाली महान यज्ञ का आयोजन किस लिये करना चाहते हैं ?"

धर्मराज ने कहा—'प्रभो ! आपके गौरव को प्रख्यात करने के ही निमित्त मैं यह यज्ञ करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"इससे मेरा गौरव कैसे बढेगा ?"

धर्मराज बोले—"हे कमलनाभ ! कुछ लोग तो ऐसे हैं जो आपके पाद पद्मों की पावन पादुकाओं को प्रेम पूर्वक सिर पर चढ़ाते रहते हैं, उन पादुकाओं की प्रेम पूर्वक पूजा करते हैं, उनका ध्यान करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं। इन कारणों से उनके समस्त अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि आपकी पावन पादुकायें समस्त अमङ्गलों को नष्ट करने वाली हैं। उनकी उपासना करने वाले पवित्रात्मा पुरुष ही होते हैं। वे जन्म मरण

के चक्कर से विमुक्त बन जाते हैं वे मुक्ति के अधिकारी तो हो ही जाते है, कदाचित् यदि उन्हें ससारी विषय भोगो की भी अभिलाषा हो जाती है तो वे भी उन्हें पर्याप्त मात्रा मे मिल जाते हैं। वे दैवी सम्पद् के पुरुष होते हैं।"

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो आपके पाद पद्मो की पूजा नही करते। नेरणार विन्दो की शरण ग्रहण नही करते, उन्हें मुक्ति मिलने की तो बात ही पृथक् रही। ससारी भोग भी पूर्ण-रोत्या प्राप्त नही होते।"

सम आपके चरणो के दास हैं, आपके अकिंचन सेवक हैं, जब हमारे द्वारा ऐसा महान यज्ञ होगा तो ससारी लोग आपके चरण कमलो की सेवा का प्रभाव, उनका चमत्कार देख-देखकर मुग्ध होगे। तब लोग समझ जायेंगे, कि आपके चरण कमलों का भजन करने वालो का ऐसा प्रभाव है। आपकी दृष्टि मे तो सभी समान हैं। आपका न कोई शत्रु है न मित्र। फिर भी जैसे कल्प वृक्ष की जो शरण लेता है उसी के सब मनोरथ पूर्ण होते है। अत हम आपकी शरण मे हैं। आपके शरणागतों द्वारा ऐसा महान कार्य होगा, तो आपका ही गौरव बढेगा। आपकी ही महिमा का विस्तार होगा, जनता मे आस्तिक भाव बढेगा।

कितना महान् उद्देश्य हैं, कितनी विनम्रता है। कितनी भगवद् परायणता है कितनी प्रभु पाद पद्मो की निर्भरता है।

इसी का यह कारण था, कि धर्मराज का यज्ञ अद्वितीय हुआ। जिसमे स्वय भगवान् वासुदेव ने अतिथि अभ्यागत और ब्राह्मणो के पैर पखारने की सेवा सम्पन्न की। धर्मराज ने दुर्योधन का मान बढाने को राजा लोग जो भेंट लेकर आये थे, उन्हें ग्रहण करने का गौरव उसे प्रदान किया। देश विदेशों के

राजागण इतनी भेटें लाये थे, कि दुर्योधन लेते लेते थक गया। पाडवो का इतना भारी सम्मान, प्रभाव, यश तथा प्रतिष्ठा देखकर वह जल भुनकर भस्म हो गया उससे उनका इतना भारी सम्मान सहन न हुआ उसे जूडी आ गयी। उसने जाकर अत्यन्त दुखित होकर अपने पिता धृतराष्ट्र से कहा—'पिताजी! पाडवो के राजसूय यज्ञ मे इतनी भेटें आयी कि मैं लेते लेते थक गया। उनकी धन सम्पत्ति की कोई सीमा ही नही थी। बडे-बडे प्रतापी राजा भेंट लिये हुए हाथ जोडे दासो की भांति द्वार पर खडे रहते थे, किन्हीं-किन्ही को दो दो तीन-तीन दिनो तक भेट देने का अवकाश नही मिलता था। ऐसा यज्ञ न मैंने आज तक कभी देखा न सुना। इतनी धन, सम्पति भी मैंने आज तक कभी नही देखी थी। उसे देखकर मैं तो ईर्ष्या के कारण जल भुन गया।"

धृतराष्ट्र ने कहा—'दुखी होने की क्या बात है तुम भी ऐसा ही राजसूय यज्ञकर डालो।"

यह सुनकर उसने अहकार मे भरकर वैसा ही एक यज्ञ करने का सकल्प किया। बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मणो को बुलाकर उनसे राजसूय यज्ञ कराने को कहा।

ब्राह्मणो ने कहा—"राजन्! आपके कुल मे आपके ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई धर्मराज युधिष्टिर अभी विद्यमान् हैं, उनके रहते हुए आप राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते। क्योकि कुल मे सबसे ज्येष्ट श्रेष्ट एक ही व्यक्ति इस महान् यज्ञ को कर सकता है। अत आप राजसूय यज्ञ न करके उसके समान ही अमुक यज्ञ को करें।"

ब्राह्मणो के कहने पर आसुरी सम्पद् वाले अभिमानी दुर्योधन ने अहकार में भरकर वह यज्ञ कराया तो अवश्य, किन्तु

उसका महत्त्व धर्मराज के राजसूय यज्ञ के समान नहीं था। वह दम्भ यज्ञ था, ईर्ष्या के वशीभूत होकर, अहंकार में भरकर कीर्ति, यश तथा प्रसिद्धि प्रतिष्ठा के उद्देश्य से किया गया था। आसुरी सम्पदा वाले पुरुष यदि किसी शुभ कार्य को भी करते हैं, तो वह ईर्ष्या, द्वेष अहङ्कार के कारण तामस ही बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों के स्वभाव का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से आगे कह रहे हैं—"अर्जुन! आसुरी प्रकृति वाले पुरुष बड़े गर्व से अहंकार पूर्वक कहा करते हैं—"अजी, वह दो कौड़ी का निर्धन मनुष्य भला मेरी बराबरी क्या कर सकता है, मैं धनवान् हूँ अभिजनवान्–कुलीन हूँ। वह जाने कहाँ का अकुलीन नीच मनुष्य आ गया है मेरे बराबर कौन हो सकता है। सबसे श्रेष्ठ तो मैं ही हूँ।"

मैंने सुना है, उसने बड़ा भारी यज्ञ किया है। वह क्या यज्ञ कर सकता है, मैं एक यज्ञ करने वाला हूँ, उसमें मेरा ठाट बाट देखना। उस यज्ञ के द्वारा सबको नीचा न दिखा दिया तो मेरा नाम बदल कर रख देना। ऐसा यज्ञ करूँगा, कि दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। जो मेरे प्रशंसक आवेंगे, जो मेरी स्तुति करेंगे, मेरी बड़ाई करेंगे, उन्हें यथेष्ट दान दूँगा। उन्हें प्रसन्न कर दूंगा। वहाँ यज्ञ मे बहुत से गाने वाले, बजाने वाले तथा नाचने वाले पुरुष तथा नाचने वाली नर्तकियाँ आवेंगी, उनकी कलाकारियों को देख-देखकर मैं मुदित हूँगा, प्रसन्न हूँगा। प्रहर्ष को प्राप्त हूँगा।"

इस प्रकार वे आसुरी प्रकृति वाले अज्ञानी, अज्ञान से विमोहित बने भाँति-भाँति की बकवाद करते रहते हैं।

उन पुरुषों का चित्त भ्रमित बना रहता है, वे भ्रान्त होकर मोह रूपी जाल में जैसे मछली फँसी रहती है वैसे वे फंसे रहते हैं। क्योंकि यह कार्य हितकर है यह अहितकर है, इस बात का विवेक तो उन्हें रहता ही नहीं। वे जैसे मछली जाल में फँसकर तड़फती रहती है। वैसे ही ये तड़पते रहते हैं ये काम और भोग जो समस्त अनर्थों के साधन हैं उनमें आसक्त बने रहते हैं। इसी कारण ये लोग अत्यन्त ही अपवित्र-विष्ठा मूत्र, कफ, राध, रक्त से भरे नरकों में गिरकर अनन्त काल तक भाँति-भाँति की यन्त्रणाओं को सहते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् अभी और आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों के स्वभाव का वर्णन करेंगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

वे अति मूरख अज्ञ भ्रमित चित इत-उत डोलत।
मोहजाल में फँसे अट की सट हु बोलत॥
विषयनि में आसक्त रहें विषयनि हित तरफत।
विषय मोइ मिल जाइ निरन्तर यह ई सोचत॥
विषयी कामा सक्त वे, विषयनि में फँसि जायँगे।
अशुचि अधिक अपवित्र जो तिनि नरकनि महँ जायँगे॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (७)

[१२]

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥*

(श्री भा० गी० १६ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

देखें जगमें यज्ञ करें, जो कीरति पावें।
इत-उत जावें यज्ञ हेतु बहु द्रव्य कमावें॥
दम्भ-यज्ञ वे करें आत्म संभावित मानी।
दान मान हित देइँ व्यरथ के वे हैं दानी॥
नाम यज्ञतें यजन करि, तोऊ सुख पावें नहीं।
करें शास्त्र विधि तें रहित, सुख मख अस देवें कहीं?

---

* वे अपने आपको प्रतिष्ठित मानने वाले, धन और मान के मद से मदान्ध, अभिमानी अपने नाम के लिये अविधि पूर्वक दम्भ-से यजन करते हैं ॥१७॥

अहकार, बल, दर्प, काम और क्रोध से युक्त पर निन्दक पुरुष, अपने तथा पराये शरीरों में सर्वत्र स्थित मुझ परमात्मा से ही द्वेष करते हैं ॥१८॥

एक ही कार्य, भाव भेद से भिन्न भिन्न फल वाला होता है। श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में आता है आत्मदेव ब्राह्मण के धुन्धुकारी और गोकर्ण दो पुत्र थे धुन्धुकारी तो अपने दुष्टकर्मों से प्रेत हो गया, गोकर्ण महान् पंडित हुआ। धुन्धुकारी ने गोकर्ण के आने पर रो-रोकर अपने प्रेत होने का कारण बताया और प्रेतत्व से छुड़ाने की प्रार्थना की।

गोकर्ण ने सूर्य देव से ही अपने भाई के उद्धार का उपाय पूछा, तब सूर्यदेव ने श्रीमद्भागवत सप्ताह से उद्धार बताया। गोकर्ण ने स्वयं ही श्रीमद्भागवत का सप्ताह विधि पूर्वक कहा–प्रेत को भी सात पोर वाले बाँस में बंद करके रखा। प्रतिदिन एक पोर फटती जाती थी। सातवें दिन वैकुंठ से एक विमान आया, उसमें बैठकर धुन्धुकारी वैकुंठ में चला गया। कथा श्रवण करने वाले सहस्रों श्रोता थे, किन्तु अकेले धुन्धुकारी के ही लिये विमान आया देखकर गोकर्ण ने विष्णु पार्षदों से पूछा—"क्यों जी! भगवान् के दरबार में भी पक्षपात होता है क्या? यहाँ तो इतने श्रोता थे, सभी शुद्ध चित्त के थे किन्तु सबके लिये विमान तो आया नहीं। अकेले धुन्धुकारी के ही लिये क्यों आया? सप्ताह तो सभी ने समान रूप से श्रवण किया था?

इस पर भगवान् के पार्षदों ने जो उत्तर दिया वह अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण था उन्होंने कहा— देखिये, गोकर्ण जी! एक समान सप्ताह श्रवण करने पर भी भाव भेद से फल में भी भेद हो जाया करता है। यह सर्वथा सत्य है कि सबने साथ ही साथ भागवत शास्त्र का श्रवण किया, किन्तु इस प्रेत ने जितनी लगन से सुने हुए का मनन किया, उतना मनन अन्य श्रोताओं ने नहीं किया। एक साथ मंत्र का भजन करने वालों में भी भाव भेद से फल में भेद हो ही जाया करता है। इस प्रेत ने सात दिनों तक निराहार

रहकर अत्यत श्रद्धा से श्रवण,किये हुए विषय का लगन के साथ मनन और निदिध्यासन भी किया। आपके श्रोताओं में बहुत से ऐसे थे जो इस कान से सुनते उस कान से निकाल देते। जो ज्ञान सुदृढ़ नहीं होता, वह सुना न सुना बराबर हो जाता है। व्यर्थ हो जाता है, निष्फल बन जाता है, इसी प्रकार श्रवण, सम्यक् प्रकार से ध्यान देने से, मंत्र का जप सन्देह से तथा चित्त के इधर-उधर भटकते रहने से फल हीन हो जाता है।

जैसे वैष्णव से रहित देश व्यर्थ है, उसी प्रकार श्राद्ध में अपात्र को कराया भोजन व्यर्थ है, जैसे अश्रोत्रिय को दिया हुआ दान, और सदाचार से हीन कुल व्यर्थ है उसी प्रकार बिना श्रद्धा से श्रवण किया हुआ ज्ञान व्यर्थ है। फल मे भेद, भावना के ही कारण हुआ करता है।"

जैसे यज्ञ है, शुभ कर्म है, मोक्ष तक को देने वाला है, उसी यज्ञ को अहकार के वशीभूत होकर आप धूर्त पुरुषों से करावें, किसी शास्त्र वेत्ता को न बुलावें, तो वे धूर्त तो मनमानी करेंगे। अपनी मनमानी घरजानी करने लगेंगे। उस यज्ञ में स्वेच्छाचारिता बढ जायगी। वे दंभी पुरुष या तो मंत्र बोलेंगे ही नहीं, बोलेंगे भी तो अंट के संट अशुद्ध बोलेंगे, यजमान भी अहंकार में भरा हुआ, नम्रता से शून्य अपने-को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हुआ इधर से उधर अपना ऐश्वर्य जताता हुआ फिरेगा। ऐसे अविधि यज्ञ दम्भ यज्ञ कहाते हैं, इनसे परलोक की प्राप्ति तो पृथक् रही। इस लोक में भी क्षण भर की वाहवाही के अतिरिक्त उसका कोई फल नहीं होता। इसलिये दैवी सम्पद् वाले पुरुष यज्ञ याग दान, धर्मादि शुभ कार्यों को श्रद्धा पूर्वक, विनम्र भाव से अहंकार रहित होकर, शास्त्रीय विधि के सहित करते हैं, तो उन्हें इस लोक में भी सुख मिलता है और उनका परलोक भी बनता है, किन्तु आसुरी

सम्पत्ति वाले अभिमान मे भरकर, धनमान, मद से संयुक्त होकर इन्हीं कार्यों को करने से विनष्ट होते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वभाव का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! ये आसुरी सम्पद् वाले पुरुष अपने को ही स्वयं सर्वश्रेष्ठ तथा पूज्य मानते हैं, वे कहते हैं हम तो सर्वगुण सम्पन्न है, हमसे कौन-सी बात अविदित है हम सब कुछ जानते हैं। उनमें नम्रता तो नाम मात्र को भी नही होती, जैसे मद्यपी सदा मद मे उन्मत्त बना रहता है, वैसे ही ये लोग धन और मान के मद मे चूर बने रहते हैं, वे दूसरे पूज्य पुरुषो को भी अपने सम्मुख हेय समझने लगते हैं। कोई उनसे कहे भी कि अमुक विषय को उनसे पूछ लो, तो वे तुरन्त कहने लगते हैं—"अजी, वे क्या जानते हैं, वे क्या मेरे सदृश ज्ञाता हैं, इस विषय का तो मैं ही विशेषज्ञ हूँ। इसी कारण कोई साधु पुरुष उनके समीप नही आता। उसे धूर्त, मिथ्यावादी, उनकी हाँ मे हाँ मिलाने वाले लोभी लालची पुरुष घेरे रहते हैं, उन्ही के सहारे ऐसे लोग विधि विधान से हीन अविधि के यज्ञो को करते रहते हैं। वे यज्ञ क्या हैं, नाम मात्र के यज्ञ हैं। कोई तो कहते हैं—हमारा यह यज्ञ भगवन्नाम यज्ञ है कोई कहते हैं, हमारा यह यज्ञ हरिहरात्मक नाम का यज्ञ है, कोई कहते हैं हमारा यह यज्ञ सोमयज्ञ वाजपेय यज्ञ है। ये यज्ञ केवल नाम के ही यज्ञ होते है इनमे यज्ञो का यथार्थ कार्य नही होता। इनके करने कराने वाले भी नाम मात्र के ही द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, दीक्षित, वाजपेयी आदि होते है, इनको विधिवत वेदो का ज्ञान नही होता। ऐसे सभी अविधि पूर्वक किये हुए यज्ञ आसुरी सम्पद् वालों के तामस यज्ञ होते हैं। इनको नाम मात्र का यज्ञ या दम्भ यज्ञ भी कह सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! वैसे भी सही, ये लोग शुभ कर्मों को तो करते ही हैं। न सही परलोक में फल, इस लोक में तो उनका यश ऐश्वर्य बढता ही होगा ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, उनका न बहिरंग साधन ही सिद्ध होता है और न ज्ञान वैराग्य तथा भगवद् भक्ति रूप अंतरङ्ग साधन ही। ये नराधम तो उभय भ्रष्ट हो जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"इसका क्या कारण है ?"

भगवान् ने कहा—"इन अहंकारी दम्भी पुरुषों में दुर्गुण आ जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-कौन से दुर्गुण आ जाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"सबसे बड़ा दुर्गुण तो अहंकार है। वैसे अहंभाव तो सभी में है, किन्तु जो गुण अपने में नहीं हैं या न्यून हैं, उनका अपने में आरोप करके सदा अपने को ही सब कुछ समझना दूसरों को कुछ न समझना, यही अहंकार का लक्षण है, यह इन लोगों में विपुल मात्रा में होता है।"

दूसरा दुर्गुण होता है—'बल का। वैसे बल तीन प्रकार का होता है, शरीर के बल को बल, इन्द्रियों के बल को सह और मनोबल को ओज कहते हैं। यदि बल से दूसरों का रक्षण हो, तो वह बल तो गुण है, किन्तु जो बल परपीडा में प्रयुक्त होता है, वह दुर्गुण है। आसुरी प्रकृति वालों का बल परपीडन के ही काम में लिया जाता है।"

तीसरा दुर्गुण है—"दर्प। दर्प कहते हैं डींग हाँकने को। अपने प्रभाव को श्रेष्ठ मानकर दूसरों का तिरस्कार करते रहना। दर्प में भरकर चाहे आचार्य, गुरुजन राजा तथा और भी श्रेष्ठ पुरुष हों, उन्हें न कहने योग्य बातें का कह जाना। चित्त के इसी विशेष दोष का नाम दर्प है।"

चौथा दुर्गुण है–"काम। काम वैसे समस्त वासनाओं को कहते हैं, किन्तु यहाँ काम से दुराचार को ही समझना चाहिये। संसारी विषय भोगों को अन्याय पूर्वक प्राप्त करने की अभिलाषा।

पाँचवा दुर्गुण है–"क्रोध, अपनी मन चीती बात न होने पर जो हृदय की जलन होती है और वह बाहर भभक उठती है, उसी को क्रोध कहते है। उसमें विद्वेष वश दूसरो का अनिष्ट करने की भावना उत्पन्न हो जाती है इन दुर्गुणों के अतिरिक्त दम्भ, छल, कपट, लोभ, मोह, मत्सर, आदि अनेकों और भी दुर्गुण आते हैं और सबसे बड़ा दोष तो आसुरी सम्पद् वाले पुरुषों में अभ्यसूयकपने का होता है।"

अर्जुन ने पूछा–"अभ्यसूयक का तात्पर्य क्या है?"

भगवान् ने कहा–"असूया निन्दा का नाम है। वे दूसरो के गुणों में सदा दोष ही देखते रहते हैं। उन गुणों को भी दोष बता कर उनकी निन्दा करते रहते हैं। वे संत महात्माओं को गुरुजनों को ढोंगी बताते हैं, उनकी शिक्षाओं की खिल्लियाँ उड़ाते हैं। अर्जुन! जानते ही हो, मैं अन्तर्यामी रूप से सबके घट-घट में विराजमान हूँ। समस्त प्राणियों के देहों में और उन आसुरी प्रकृति के निन्दकों के देहों में भी मै विराजमान हूँ। वे जब दूसरों से द्वेष करते हैं, तो मानो मुझसे ही द्वेष करते है, अपना अनिष्ट करते हैं, तो मानो मेरा ही अनिष्ट करते है, अतः ऐसे लोग आत्महा हैं, आत्मघाती हैं।"

अर्जुन ने पूछा–"प्रभो! ऐसे अपने से तथा दूसरो से द्वेष करने वाले आत्मघाती पुरुषों को आप उनके क्रूर कर्मों का क्या प्रतिफल देते हैं, उन्हे आप कैसी योनियों मे डालते है?"

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान्

आसुरी प्रकृति के पुरुषो को जो प्रतिफल देते हैं, उसे जो उन्होंने स्वय बताया है, उसका वर्णन मै आगे करूंगा।"

छप्पय

अहकार में चूर न अपुसम औरहिँ समुझें।
बल अरु दर्प अधीन बिना बातहिँ के उरझें॥
करें कामना कठिन कबहुँ पूरी नहिँ होवें।
तो फिरि करिकें क्रोध अपनपो अपनो खोवें॥
परनिन्दा में निरत नित, अपनी आत्मा कूँ हनें।
इस्थित निज पर देह में, करें द्वेष द्वेषी बनें॥

आसुरी प्रकृति के पुरुषों की अधोगति

(१३)

तानहं द्विपतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनिजन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

जामें लागे अगिनि ताहि कूँ प्रथम जरावे ।
जा मन में है द्वेष ताहि तमयुक्त बनावे ॥
जीवनि तें जो द्वेष करें द्वेषी बनि जावें ।
नरकनि में वे परें आसुरी योनिनि पावें ॥
जहँ जनमें तहँ द्वेषवश, तहँ सबतें द्वेषहि करें ।
नीच नराधम पातकी, बारम्बार जनमें मरें ॥

जीवों की दो ही गतियाँ हैं, एक ऊर्ध्वगति दूसरी अधोगति । जो ऊर्ध्वगति वाले जीव हैं, वे उत्तरोत्तर एक से एक उत्तम गति

---

* मैं ऐसे क्रूर स्वभाव वाले, द्वेषी, पापी, क्रूरकर्मा नराधमों को संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ ॥१९॥

हे कौन्तेय ! वे मूढ़ पुरुष प्रत्येक जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को प्राप्त न करके अत्यन्त नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ॥२०॥

को प्राप्त होते रहते है। किसी के शापवश या अन्यान्य किसी कारण से उनका पतन भी हो जाता है, तो कुछ काल को उनकी गति अवरुद्ध हो जाती है। जैसे नारदजी को शाप वश गन्धर्व योनि में और शूद्र योनि में जन्म लेना पडा, अन्त में वे पुनः नारद ही बन गये। जड भरतजी को मृग के मोह के कारण एक मृग शरीर और धारण करना पडा, नहीं तो ब्राह्मण शरीर धारण करके मुक्त हो जाते। यदि किसी महापुरुष की या भगवान् के अवतार की कृपा हो जाय, तो अधम योनि वाले जीवों का भी उद्धार हो जाता है जैसे कीट योनि के प्राप्त जीव अन्त में मैत्रेय मुनि हो, गये। यह भगवान् वेदव्यास की कृपा से हुआ। कीट योनि के अनतर वे जिस-जिस योनि में जाते, वहीं कृपा करके व्यासजी पहुँच जाते और उन्हें उपदेश दे आते।

बहुत से रजोगुणी तमोगुणी वाले जीव भी भगवत् कृपा से परमपद के अधिकारी बन जाते है बहुत से स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा अन्यान्य अधम योनि वाले पुरुष भी भगवत् संग से तर जाते हैं। उनमें वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध शूद्र, कुब्जा दासी, व्रज की अनपढ़ ग्वालिनी, याज्ञिकों की पत्नियाँ ये सभी केवल भगवत् कृपा से ही तर गये हैं। ये अपने सुकृत कर्मों द्वारा नहीं तरे। साधारणतया ऊर्ध्वगति वाले पुरुष होते हैं, वे दैवी गुणों का आश्रय लेकर क्रम-क्रम से बढ़ते जाते हैं। पुण्य कर्मों के करने से उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वे स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं, कुछ पुण्यशेष रहने पर यहाँ पृथ्वी पर उच्च कुलों में जन्म लेते हैं, फिर और भी श्रेष्ठ लोकों में जाते है, इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते अंत में मुक्त हो जाते हैं। यह सब साधारण जीवों के लिये है। भगवत् कृपा,

जीव तो अनुग्रह सृष्टि के होते हैं। ये तो अपवाद स्वरूप हैं।

दूसरे अधोगति वाले जीव हैं। उनका उत्तरोत्तर अधःपात ही होता जाता है। जैसे किसी अधोगामी जीव का जन्म किसी कारण विशेष से उत्तम ब्राह्मण वंश मे हो गया, तो वह आसुरी प्रकृति के अनुसार यहाँ क्रूर कर्म ही करेगा, उन क्रूर कर्मों के कारण मरकर उसे घोर नरको की यातनायें सहन करनी पड़ेंगी। कुछ पाप शेष रह जाने पर यहाँ पृथ्वी पर वह चाडाल आदि नीच योनियो मे जन्म लेगा, वहाँ भी पूर्व संस्कारो के अनुसार पाप कर्मों मे ही प्रवृत्त होगा, फिर उसे नरको मे जाना पडेगा, फिर सिंह, व्याघ्र, सर्प, मर्कट, कूकर, सूकरादि योनियो मे प्रकट होगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर उसका अधः पतन ही होता जायगा।

इन दोनो गतियों का ही नाम संसार चक्र है। असंख्यो जीव इन्ही के कारण जन्म और मृत्यु के चक्कर में फंसकर चौरासी लाख योनियो मे घूमते रहते है। विशुद्ध वर्णाश्रम मार्ग कर्म मार्ग है, उस स्वधर्म का पालन करते रहो, कर्म करते-करते निष्कर्म होकर मुक्त हो जाओगे। जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा न जाने कितनी योनियो मे घूमते-घूमते न जाने कब परम पद का अधिकारी बन सकेगा। उस मार्ग में तो बिना ब्राह्मण के सन्यास का अधिकारी ही नहीं, संयास के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के बिना मुक्ति नही।

इसीलिये आचार्यों ने भक्ति मार्ग को, शरणागत पन्थ को अपनाया है। इसमें अपना कोई पुरुषार्थ नही, जीव का अपना कोई कर्तव्य नही। सर्वात्मभाव से भगवान् की शरण में हो जाओ। विश्वास करो भगवान् कृपा के सागर हैं, करुणा के आलय हैं, शरणागत प्रतिपालक हैं, भक्त वाछा कल्पतरु हैं, प्रपन्न-

पारिजात हैं, निरंतर उन्हीं की कृपा की प्रतीच्छा करते रहो। कृपा की प्रतीक्षा करते रहना ही परम पुरुषार्थ है। इसमें ज्ञान को वैराग्य की अपेक्षा नही। वर्ण का, आश्रम का बन्धन नही। भगवान् की जिस पर कृपा हो गयी, वह चाहे किसी भी वर्ण का हो किसी भी आश्रम का हो, किसी भी योनि में जन्मा हो, सस्कार वाला हो संस्कार हीन हो स्त्री हो या पुरुष हो, जहाँ भगवत् कृपा पात्र बना, जहाँ उस पर अनुग्रह रूप कृपा की दृष्टि की वृष्टि हो गयी, मानो उसका वेडा पार हो गया। उसका चौरासी का चक्कर सदा के लिये छूट गया।

नहीं तो जो अधोगामी जीव हैं, भगवत् विश्वास से हीन हैं, अपने को ही सब कुछ समझकर सदा सर्वदा धनमान के मद में डूबे रहते हैं, उनको तो नरकों में निरन्तर दुर्गति होती रहती है, वे बार-बार नरकों में जाते रहते हैं और बार-बार जन्म जरा मृत्यु की चक्की में पिसते रहते हैं। उनके दुःखों का अन्त नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों की कौन-सी गति होती है।" यह जिज्ञासा की, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते—"अर्जुन! जिन्हें मेरी कृपा पर मेरी अनुकम्पा तथा शरणागत वत्सलता पर विश्वास नहीं। जो मुझसे द्वेष करते हैं, मुझसे ही नही मेरे आश्रय पर रहने वाले साधु संत तथा भक्तजनों से द्वेष करते हैं, उन्हें मैं उनकी क्रूर तथा अधम भावना के अनुसार क्रूर एवं अधम-अशुभ-कर्म करने वालों को यहाँ नीच योनियों में फेंक देता हूँ। उन नीच योनियों में वे नरक के मार्ग को प्रशस्त करते वाले पाप कर्म करते रहते हैं। इस कारण उन्हें नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है वहाँ से यदि वे लौटते हैं, तो उन्हें मैं पुनः आसुरी योनियों में पटक देता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—'ये जो सूकर, कूकर कीट, पतग, सिंह व्याघ्र, सर्पादि आसुरी योनियाँ हैं उनमे कब तक उनको गिराते रहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उन्हे तब तक गिराता रहता हूँ जब तक उन्हें पुन पुरुष योनि प्राप्त न हो जाय। वे निरन्तर सहस्रो लक्षो बार इन अधम योनियो मे जन्मते मरते रहते हैं। यदि मनुष्य योनि पाकर उन्होंने पुन दैवी सम्पद् को ग्रहण न किया, तो पुन वे चौरासी के चक्कर मे पड जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—'क्या प्रभो ! वे फिर आपको प्राप्त नहीं कर सकते ?"

भगवान् ने कहा—'मुझसे और मेरे भक्तो से तो वे सदा द्वेष ही रखते हैं अत वे मूर्ख, क्रूर अधम नीच, निर्लज्ज पुरुष आसुरी योनियों को ही प्राप्त होते रहते है मुझे प्राप्त नहीं होत। वे अधोगति वाली योनियो मे ही घूमा करते हैं।'

अर्जुन ने कहा—'प्रभो ! आप तो अधम उधारन हैं, पतित पावन हैं, ऐसे लोगों पर भी तो आपकी कृपा होनी ही चाहिये वे भले ही आपसे द्वेष करते रहे, आपको तो उन पर कुछ कृपा करनी ही चाहिय।"

भगवान् ने कहा—'ऐसे लोग मानव जैसी पवित्र योनि के भी पाने के अधिकारी नहीं होत। मै उन पर कृपा करके ही तो मानव जैसी सुदुर्लभ मुक्ति के द्वारभूत पावन योनि को देता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"क्या मानव शरीर पाकर आसुरी सम्पद् वालों का भी उद्धार हो सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, हो सकता है, किन्तु तभी तक हो सकता है जब तक मानव शरीर को त्यागकर नरक के कारण क्रूर

योनियो मे न जायँ, यदि क्रूर योनियो में पड गये तो उन्हें पुनः चोरासी के चक्कर मे घूमना पडेगा।"

अर्जुन ने पूछा—"मानव शरीर मे क्या करने से-कौनसी बातें छोड़ने से-उन्हे नरक का द्वार न देखना पडेगा। मानव शरीर पाकर कैसे चिरकाल से आसुरी योनियो में भ्रमण करने वाला जीव दैवी सम्पद् का अधिकारी बन सकेगा? कृपा करके इसे मुझे बताइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने मानव शरीर में नरक न जाने वाली बातो को त्यागने की बात पूछी, तो भगवान् ने इसका जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

उत्तम योनि न पाइँ आसुरी योनिनि जावें।
जगतें कीयो द्वेष जगत कूँ ही पुनि पावें॥
मोकूँ पावें नहीं सदा इत–उत-ही भटकें।
जनम-जनम में योनि आसुरिनि में ई अटकें॥
क्रम-क्रम तें अति नीच गति, पावें पतनोन्मुख रहें।
नरकनि में नितई पचैं, पतित सबहिं तिनि कूँ कहें॥

नरक के तीन द्वार

[१४]

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥[*]
(श्री भग० गी० १६ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

नरक भवन अति विपद द्वार हैं तीनि तहाँ के।
आत्मनाश कर देहँ नारकी जीव वहाँ के॥
प्रथम काम है द्वार दूसरो क्रोध बतायो।
तीसर है अति प्रबल लोभ जिनि नाम धरायो॥
जो चाहत हैं ऊर्ध्वगति, होहि न हमरी अधोगति।
तो त्यागें इनि तीनि कूँ, राखें अपनी विमल मति॥

---

[*] तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, वे आत्मनाशक हैं, उनका नाम काम, क्रोध और लोभ है। इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये ॥२१॥

हे अर्जुन ! जो इन तीनों नरक के द्वारों से विमुक्त हो गया है, वही पुरुष अपने श्रेय का आचरण करता है। इसीसे वह परम गति को प्राप्त हो जाता है ॥२२॥

आसुरी सम्पदा के अनेक भेद है, इसमें अनन्त दुर्गुण हैं। जीव इन सबका परित्याग कैसे कर सकता है। यदि सबका परित्याग न कर सके, तब तो आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का कभी उद्धार सम्भव ही नहीं। इस पर कहते हैं कि चाहें लाखों जन्मों तक आसुरी योनियो मे जीव भटकता-भटकता भगवत् कृपा से कदाचित् मानव योनि में आ जाय, और समस्त आसुरी दुर्गुणों का परित्याग न भी कर सकें, केवल तीन ही दुर्गुणों को त्याग दे तो भी उसका उद्धार हो जायगा, क्योंकि नरक नगर के ये ही तीन प्रवेश द्वार हैं, वे तीन दुर्गुण हैं काम, क्रोध तथा लोभ।

काम कहते हैं इन्द्रियों के विषयों के उपभोग करने की इच्छा को। पाँच इन्द्रियाँ हैं कान, आँख रसना, घ्राण और त्वचा। इनके पाँच ही विषय हैं शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श। जो इन विषयो मे अत्यन्त आसक्त हो जाता है, उसका अधःपात निश्चित है। जैसे हरिण है, इसे सुदर शब्द श्रवण करने का व्यसन है, अतः बहेलिया क्या करते हैं। हरिण के सम्मुख सुदर स्वरयुक्त वीणा बजाते हैं, वह वीणा के शब्द मे आसक्त होकर मन्त्र मुग्ध बना उसे सुनने लगता है, उसी दशा में वधिक बाण मारकर उसके प्राणो को हर लेते हैं, यह तो शब्द विषय में अत्यन्त आसक्ति का परिणाम है।

पतंग रूप पर आसक्त होने वाला है, वह दीपक की जो लौ है उसके रूप पर आसक्त होकर उसे आलिंगन करने दौडता है, उसे आलिंगन तो क्या करेगा, स्वय ही उसकी आग मे जलकर भस्म हो जाता है, यह रूपासक्ति का प्रतिफल है।

भौंरा जो है, वह कमल की गन्ध मे आसक्त हो जाता है, उस गंध का आस्वादन करते-करते ऐसा उन्मत्त हो जाता है कि उसे यह भी पता नहीं रहता, कि कब सूर्य उदय हुआ, कब

अस्त हुआ। सूर्यास्त के समय कमल बन्द हो जाता है, वह रात्रि भर उसी मे कैद हुआ पड़ा रहता है। यह गन्ध मे आसक्त प्राणी की दुदशा है।

मछली बहुत ही रसना की चटोरी होती है। मछली फंसाने वाले कांटे मे तनिक-सा मास का टुकडा लगाकर जल मे डाल देते है वह रस के लोभ से उस मास के टुकडे को निगल जाती है। कांटा उसके कठ मे हिटक जाता है, वह बंध जाती है और अन्त में अपने प्राणो मे भी हाथ धो बैठती है, यह रसना मे आसक्त प्राणी के लोभ का प्रतिफल है।

हाथी बडा कामी होता है, उसे हथिनी का स्पर्श अत्यन्त सुखकर लगता है। इसीलिये हाथी पकडने वाले एक बनावटी काठ की हथिनी गड्ढे को पाटकर उस पर रख देते हैं। मदोन्मत्त हाथी हथिनी के स्पर्श के लोभ से उसके ऊपर झपटता है, तो गड्ढे मे गिरकर बन्दी बन जाता है, सदा-सदा के लिये अपनी स्वतन्त्रता को खो देता है। स्पर्श मे आसक्त प्राणी की यही दुर्दशा होती है, उसकी स्वतन्त्रता सदा-सदा के लिये छिन जाती है।

ये दुर्दशा तो एक एक विषय मे आसक्त प्राणियो की है। ससार के पदार्थों में किसी पदार्थ का शब्द प्रिय है, किसी का रूप प्रिय है, कोई रसना के लिये सुखद है, किसी की गन्ध मोहक है, किसी का स्पर्श आकर्षक है। स्त्री मे ये पाँचो ही काम विषय एक साथ विद्यमान हैं इसीलिये स्त्री का नाम कामिनी है। जो विषयासक्त प्राणी कामिनी के चक्कर मे फंस जाते हैं, उनका ससार से उद्धार होना कठिन है। अत मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष को काम का परित्याग करना चाहिये। अर्थात् जिसके साथ धर्मपूर्वक विधिवत् विवाह हुआ हो, उस अपनी धर्म पत्नी को छोडकर अन्य स्त्रियों का कभी मन से भी चिंतन न करना चाहिये। जो पर नारी का

स्पर्श करता है, वह कामी है, वह तो जानबूझकर नरक के द्वार को अपने लिये खोल रहा है।

नरक का दूसरा द्वार है-क्रोध। क्रोध की बार-बार व्याख्या हो चुकी है। अपनी इच्छा की पूर्ति न होने पर अथवा लालच, ईर्ष्या द्वेष के कारण हृदय में जो एक प्रकार की जलन होती है और वह जलन भभक कर प्रकट होकर उग्र रूप रख लेती है, वही क्रोध है। वैसे क्रोध काम का ही भाई है, किन्तु उसका शत्रु भी है क्रोध आने पर काम शांत हो जाता है और कितना भी आदमी क्रोध मे भरा हो काम सामग्री सम्मुख उपस्थित हो जाने पर क्रोध शान्त हो जाता है। शिवजी ने काम को भस्म कर दिया था, किन्तु क्रोध की सहायता से। नारायण ऋषि ने बिना क्रोध की सहायता के हँसते हँसते ही काम पर विजय प्राप्त करली थी। क्रोध यह परमार्थ मे सबसे बड़ा विघ्न है।

नरक का तीसरा द्वार है–लोभ। लोभ सदा लाभ से बढ़ता है, अत परमार्थ के पथिक को किसी बात की इच्छा न करनी चाहिए। इन संसारी इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं। एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी इस प्रकार ये इच्छाये अन्त मे विराट्‌रूप रख लेती है फिर भी पूर्ण नहीं होती। इसका उदाहरण भगवान् ने वामन अवतार लेकर प्रत्यक्ष दिखा दिया है।

बलि ने यज्ञ मे आये हुए नन्हे से वामन वटु से कहा—"वटुवामन! क्या माँगने आये हो?"

वामन ने कहा—"तुम मुझे मंगता समझते हो क्या? मैं कुछ नहीं माँगता।"

बलि ने कहा—"धनिक के द्वार पर जाना ही इच्छा का द्योतक है। तुम्हारी जो भी इच्छा हो वही माँग लो।"

वटु ने कहा—"मुझे कोई भी इच्छा नहीं।

बलि ने कहा—"संसार में ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं जिसकी कुछ न कुछ इच्छा न हो। जब हमे किसी वस्तु का अभाव खटकता है, तभी धनिकों का द्वार खटखटाया जाता है। तुम्हें जो अभाव हो वही मुझसे माँग लो।"

वामन ने कहा—'मेरे पास मूँज की मेखला है मृग चर्म है, जल से भरा कमण्डलु है, दंड है वर्षा धूप निवारणार्थ छत्री है पैरों मे पादुकायें हैं, हाथ मे ब्रह्म दंड है, भिक्षा माँग कर निर्वाह करता हूँ, ब्रह्मचारी की सभी आवश्यक सामग्रियाँ मेरे पास है अब अभाव का क्या काम ?"

बलि ने कहा—"वामन बहुत बनो नहीं। सकोच मत करो। कोई अभाव तो तुम्हे अवश्य है। नही तुम मेरे यहाँ आते ही नही।"

वामन बोले—'वैसे ही यज्ञ देखने चला आया था, कुछ माँगने की इच्छा से नहीं। मार्ग मे आते-आते एक तनिक सी इच्छा उत्पन्न हो गयी, एक नन्हा सा अभाव खटकने लगा।"

यह सुनकर महाराज बलि हँस पडे और बोले—"वामन! तनिक-सा अभाव ही विराट बन जाता है नन्ही सी आशा का बीज ही विराट वट वृक्ष हो जाता है। अपने अभाव को कह दो। अपनी इच्छा को व्यक्त कर दो सकोच का काम नहीं।"

वामन बोला—"मैं मार्ग मे आ रहा था। एक आदमी की तिदरी मे बैठकर आसन लगाकर सन्ध्या करने लगा।"

बलि ने कहा—"फिर क्या हुआ ?"

वामन ने कहा—"तभी तक गृहपति आ गया, उसने क्रोध करके कहा—" अरे बमन्टा! कहाँ आकर बैठ गया। निकल मेरे स्थान से। यह स्थान क्या तेरे बाप का है?"

बलि ने पूछा—"फिर क्या हुआ ?"

वामन बोले—"मैं अपने दड-कमण्डलु उठाकर वहाँ से चला तो आया, किन्तु मेरे मन मे यह बात आई कि अभी का कोई न कोई स्थान है जहाँ जाऊँगा, वही से ऐसे तिरस्कार सहित भगाया जाऊँगा। अतः अपनी भी एक छोटी सी कुटिया बन जाती तो अच्छा था।"

बलि हँसे और बोले—"वामन छोटी कुटी से काम न चलेगा तुम्हे कहो तो बडी सी कोठी बनवा दूँ। या मेरे इतने भारी महलो को ले लो।"

वामन चमक उठे और बोले—"राजन्! क्या आपने मुझे लोभी वामन समझ रखा हैं। मुझे बडी कोठी नही चाहिये। जिसमे मेरा आसन भर लग सके केवल तीन डग, एक धनुप के बराबर साढे तीन हाथ भूमि चाहिये।"

बलि ने कहा—३॥ हाथ मे ही तो समस्त इच्छायें भरी हैं। ब्रह्माजी भी अपने हाथो से ३॥ हाथ ही हैं। अपना-अपना नाप सभी का एक सा नही होता। कुछ अधिक माँग लो।"

वामन बोले—"महाराज! फिर वही बात। क्या मैं लोभी हूँ। जितनी मेरी आवश्यकता है उतना ही माँगूगा। अधिक ले कर क्या करूँगा ?"

बलि ने कहा—'अभी तो आप लोभी नही हो, क्योंकि अभी आप को कुछ लाभ ही नही हुआ है। लोभ तो लाभ से बढता है, जहाँ मैं आपको दे दूँगा, वहाँ, आपका लोभ बढने लगेगा। अच्छा, लोभ नहीं है तो आप तीन पैर पृथ्वी ही चाहते हैं न? मैं किसी लम्बे आदमी के पैरों से नपवाये देता हूँ आपके नन्हें-नन्हें पैर हैं उसमें भूमि कम आवेगी। लम्बे आदमी के पैरों से अधिक आ जायगी।"

इस पर वामन क्रुद्ध हो उठे—"राजन् ! मेरी हँसी उडाते हो, वार-वार मुझे लोभी समझते हो। अधिक भूमि लेकर मैं क्या करूँगा। मैं तो तीन पैर से एक सुई बराबर भी अधिक न लूँगा। और अपने ही पैरो से नापूँगा।'

वलि हँसे और बोले—'वामन ! तुम क्या ससार के सभी प्राणी सब को अपनी ही दृष्टि से अपने ही परो से नापते है। किन्तु तुम बहुत छोटे हो नापते समय तनिक पैरो को बढा-बढा कर नापना।"

इस बार वामन को भी हँसी आ गयी और बोले—'राजन् ! नापूँगा तो मैं अपने ही पैरो से नापने लगूँ तब देखना पैर कितने बढते हैं। पति प्राप्त करने पर ही पत्नी के पैर भारी-भारी होते हैं।"

वामन की इच्छा तो पहिले छोटी ही थी। सकल्प का जल हाथ मे लेते ही लोभ से वे बढकर विराट् हो गये। दो पैरो में ही पूरे ब्रह्माण्ड को नाप डाला। फिर भी इच्छा पूरी नही हुई। हो कहाँ से ? लोभी की कभी इच्छा पूरी होती ही नही। अत्यन्त लोभ का ही कारण है, कि वामन बलि के द्वार पर बँध गये। अब तक बँधे हुए हैं। हाथ मे छरी लेकर द्वारपाल बने पहरा देते हैं।

इससे भगवान् ने यही शिक्षा दी लोभ लाभ से बढता है। समस्त इच्छाओ की पूर्ति कभी होती नही। जीव लालच वश ही बंध जाता है। अत कभी लोभ नही करना नही चाहिये। लोभ पाप कर मूल। इन तीनो नरक के द्वार रूप दुर्गुणों मे प्राणी बच जाय जो वह परागति पाने का अधिकारी बन सकता है। श्रेय माग का पथिक हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा कौन सी

बातें छोड़ने से प्राणियों को नरक का द्वार न देखना पड़ेगा ?" इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! नरक के तीन ही द्वार हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-कौन से ?"

भगवान् ने कहा—"अपना नाश करने वाले, नरक में पहुँचा देने वाले काम, क्रोध और लोभ ये ही तीन नरक के द्वार हैं। इसलिये इन तीनो का ही परित्याग कर देना चाहिये और इस मानव शरीर मे ही मृत्यु के पहिले-पहिले इन्हें छोड़ देना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसा पण क्यों लगाते हो ? अन्य योनियों मे या नरकों मे ही जाकर इन्हे छोड देंगे ?"

भगवान् ने कहा—"अन्य सभी योनियाँ तो भोग योनियाँ हैं, उनमें कर्म करने की स्वतन्त्रता ही नही। उनमें तो केवल प्रारब्ध भोग ही भोगे जा सकते हैं। स्वर्ग तथा नरक ये स्थान भी भोग स्थान हैं वहाँ साधनादि कर्म नही किये जाते। कर्म भूमि तो यही है। साधक योनि तो मनुष्य योनि है। जो काम क्रोध के वेगों को इस लोक में ही मृत्यु के पहिले पहिल जीतने मे समर्थ होता है, वही योग युक्त है, वही सुखी है और वही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। यही पर नरक रूप रोग की चिकित्सा हो सकती है। अन्य लोको में न औषधि है और न औषधालय ही हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"काम, क्रोध और लोभ इन तीनो का त्याग क्यों करना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"कह तो दिया ये नरक के द्वार हैं जिन्हें नरको में जाना हो वे इनका आचरण करें क्योंकि ये तमोगुण के खुले द्वार है।"

अर्जुन ने पूछा—"इनके त्याग करने से क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—"इनको त्यागने वाला पुरुष अपने कल्याण के पथ को प्रसस्त करता है, जिसके द्वारा वह परम गति को प्राप्त कर लेता है। वह परम पुरुषार्थ का अधिकारी बन जाता है। उसका नरक का द्वार बन्द हो जाता है। वह एक विशुद्ध नियम मे बँध जाता है।'

अर्जुन ने पूछा—'नियम मे कैसे बँध जाता है ?'

भगवान् ने कहा—"काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत हुआ पुरुष स्वेच्छा कामी होता है। कामी पुरुष अपने काम की पूर्ति के लिये उचित अनुचित सभी उपायो को करता है क्रोधी पुरुष का कोई प्रिय नहीं होता। वह सभी का घात कर सकता है। लोभी पुरुष से कोई भी पाप छूटा नही रह सकता। ये तीनो काम स्वेच्छा चारिता को बढाते हैं। जो इन तीनो से विमुक्त हो जाते हैं, वे एक प्रामाणिक बन्धन मे बँध जाते हैं उन्हे बोध हो जाता है, यह कार्य कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है इसे करना चाहिये, इसे न करना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान किससे होता है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूँगा।"

छप्पय

कुन्तीनन्दन! काम क्रोध अरु लोभ शत्रु जे।
नरक द्वार हैं बड़े अधोगति दाता हैं ते॥
इनि तैं जो हैं मुक्त करें कल्यान आचरन।
अन्तःकरन विशुद्ध बनै निरमल होवै मन॥
ऐसे जो हैं शुद्ध नर, अवसि परम पद पाइँगे।
सुख पावें ससार में, मोई में मिल जाइँगे।

कर्तव्या कर्तव्य में शास्त्र ही प्रमाण है

(१५)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

शास्त्रनि की विधि त्यागि करैं अपनी मनमानी ।
विधि आचरन न करैं अधम अतिई अज्ञानी ॥
काम निरत ते पुरुष जगत दुख अधिक उठाईं ।
करें सिद्धि हित जतन सिद्धि परि पावत नाईं ॥
जग ई में भटकत रहत, नित्य नई पावैं व्यथा ।
फैसे होवै परागति, सुख की तो पुनि का कथा ॥

---

* जो पुरुष शास्त्र विधि का परित्याग करके स्वेच्छापूर्वक वर्तता है । वह न तो सिद्धि को ही प्राप्त करता है और न परमगति तथा सुख को ही प्राप्त कर सकता है ॥२३॥

इससे तुम्हारे लिये इस संसार मे कार्य अकार्य के विषय मे शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर शास्त्रीय विधान से कर्म करने चाहिये ॥२४॥

जो धर्म प्रधान पुरुषो पर धर्म पूर्वक धार्मिक शासन करे उसे शास्त्र कहते हैं। शास्त्र मे दो बातें होती हैं, विधि और निषेध। शास्त्र आज्ञा देता है ये-ये कार्य कर्तव्य हैं ये ये अकर्तव्य अर्थात् निषेध है। इन इन कार्यों मे प्रवृत्ति होनी चाहिये इन इन कर्मों से निवृत्ति होनी चाहिये। वेदादि समस्त शास्त्रो का उद्देश्य ससारी प्रवृत्ति से निवृत्त होना-अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होना ही है। वह किन-किन कार्यो से प्राप्त हो सकती है और कौन-कौन से कार्य इसमे अन्तराय हैं, विघ्न हैं, शास्त्र इन्ही सब बातो का अनुशासन करता है। शास्त्र के वचनो पर अविश्वास न करना चाहिये। उन पर अमर्यादित तर्क वितर्क भी न करनी चाहिये। वैसे हमारे यहाँ तर्क शास्त्र भी है, किन्तु उनकी भी एक मर्यादा है उनकी भी सीमा है अर्थात् जो तर्क वेद के विरुद्ध न हो, वही तर्क नियमित है। जहाँ किसी ने वेद का प्रमाण दे दिया वहाँ तर्क समाप्त हो गयी। अतः तर्क शास्त्र भी दो प्रकार का होता है, एक आस्तिक तर्क शास्त्र, एक नास्तिक तर्क शास्त्र। एक मर्यादित दूसरा अमर्यादित, एक सीमाबद्ध दूसरा निस्सीम उच्छृंखित। वेद वचनो पर विश्वास ही आस्तिकता है, वेदो पर विश्वास न रखना इसी का नाम नास्तिकता है। सभी बातें तर्क से ही सिद्ध नही हो सकतीं। जो अचिन्त्य भाव है वे तर्कों द्वारा सिद्ध नही किये जा सकते।

अब जैसे शास्त्र कहता है, "गोमूत्र परम पवित्र है।" वादी तर्क करेगा कि क्यो पवित्र है ? तो प्रतिवादी कहेगा -गौ सीधी होती है, वह उपकारी पशु है केवल घास आदि से निर्वाह करती है हिंसा नही करती इत्यादि-इत्यादि" तब वादी कहेगा— ये सब गुण तो भैंस मे भी होते हैं, भैंस का भी मूत्र पवित्र मानना चाहिये।"

वादी कहेगा—"गौ का मूत्र बड़ी कठिनता से मिलता है, इससे पवित्र है।"

प्रतिवादी कहेगा—"सबसे कठिनता से तो सिंहिनी का मूत्र मिलता है, उससे पवित्र मानना चाहिये।"

इस प्रकार गोमूत्र की पवित्रता पर आप कितने भी तर्क करो, उनका कुछ न कुछ उत्तर हो सकता है।

आस्तिकों का कहना इतना ही है—कि शास्त्र में गौ के मूत्र को पवित्र माना है इसलिये शास्त्र वचनों पर विश्वास करके हम उसे पवित्र मानते हैं। यह अचिन्त्य भाव है, तर्कों द्वारा इसकी पवित्रता सिद्ध नहीं की जा सकती।

वास्तविक बात यह है, कि शास्त्रों पर श्रद्धा करना आस्तिकता का एक चिह्न है। शास्त्र जिनके द्वारा संकलित किये गये हैं। शास्त्रीय ज्ञान सर्वप्रथम जिनके विशुद्ध अन्तःकरण में उद्भासित हुआ है, वे ऋषि मुनि त्रिकालज्ञ होते हैं। उनके द्वारा अनुभूत तथ्य कल्याणकारी ही होगा, भले ही तर्कों द्वारा हम उसकी उपादेयता सिद्ध न कर सकें, किन्तु शास्त्र में ऐसा वचन है, उसकी सत्यता का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। अतः जहाँ कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय करना हो, वहाँ शास्त्र को ही मुख्य प्रमाण मानना चाहिये। सबमें मुख्य प्रमाण वेद है, वेद द्वारा सिद्ध हो जाय तो फिर स्मृतियों से उसे मिलाना चाहिये। स्मृतियों में मिल जाय, तो फिर यह देखना चाहिये कि ऐसी स्थिति में सज्जन पुरुषों का आचार क्या रहा है, और जब तीनों मिल जायँ तो अपने विशुद्ध अन्तःकरण की प्रवृत्ति से उसका मिलान करना चाहिये। यही सनातन पथ है, यही सनातन धर्म है। जो शास्त्र को न मानकर मनमानी करते है, उन्हें आन्तरिक शांति प्राप्त नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब अर्जुन ने कर्तव्य और

अकर्तव्य का ज्ञान किससे होता है, यह प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन कर्तव्याकर्तव्य मे प्रमाण तो शास्त्र ही है।"

अर्जुन ने पूछा—"शास्त्र से अभिप्राय क्या है ?'

भगवान् ने कहा—"जो अर्थ अथ का बोध करावे, जो अनुशासन करे। हमे यह काम करना चाहिये यह न करना चाहिये इसकी शिक्षा दें वही शास्त्र है।"

अर्जुन ने पूछा—"जो शास्त्र को न मानकर अपनी इच्छानुसार वर्ताव करते हैं, उनकी क्या गति होती है ?"

भगवान् ने कहा—'जो पुरुष शास्त्र विधि का परित्याग करके उसे न मानकर अपनी इच्छानुसार मनमानी घरजानी करते है, स्वेच्छाचरण करते हैं, उनको किसी प्रकार की लौकिकी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।"

अर्जुन ने कहा—"लौकिकी सिद्धि प्राप्त न हो, परमगति तो मिल जाती होगी ?"

भगवान् ने कहा—"स्वेच्छाचरण करने वाले को जब लौकिकी सिद्धि ही नही मिलती, तो फिर उन्हे परमगति कैसे प्राप्त हो सकती है, वे उससे वंचित ही रह जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"न सही परमगति, उन्हे इस लोक मे सुख की प्राप्ति तो हो ही जाती होगी।"

भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन ! ये समारी भोग अधिकाधिक अशांति को ही बढाने वाले होते हैं। जो अशांत हैं उसे सुख कहाँ। अतः शास्त्रविधि त्यागकर वर्तने वाले को आन्तरिक सुख की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।"

अर्जुन ने कहा—"तब भगवन् ! मुझे क्या करना चाहिये। मेरा क्या कर्तव्य है ?"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं बार-बार तो तुम्हें बता चुका।

उसी बात को पुनः दुहराता हूँ तुम्हारे लिये कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। इसलिये यह शास्त्र विधि से विहित कर्म है, यह शास्त्र द्वारा अविहित कर्म है इसे भली भाँति जानकर तुम्हें जो तुम्हारे लिये नियत कर्म है, जो तुम्हारा कर्तव्य कर्म है उसे ही निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ करो।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! इस प्रकार भगवान् वासुदेव ने दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् का वर्णन करके यह बात बता दी कि दैवी सम्पद्--ग्राह्य है और आसुरी सम्पद् त्याज्य है। दैवी सम्पदा वाले जो भी कार्य करते हैं, वे शास्त्रानुकूल करते हैं और आसुरी सम्पदा वाले मनमानी करते हैं। अतः कल्याण के इच्छुक को मनमानी नहीं करनी चाहिये। शास्त्र सम्मत वर्ताव ही करना चाहिये।"

अब अर्जुन श्रद्धा के सम्बन्ध में जो प्रश्न करेंगे और भगवान् उसका श्रद्धा के भेद बताकर विस्तार के साथ जो उसका वर्णन करेंगे, उसे अगले श्रद्धात्रय विभाग योग नामक अध्याय में भगवान् जैसे बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह दैवासुर सम्पद् विभाग योग नामक अध्याय यहाँ समाप्त हुआ।

छप्पय

तातैं अरजुन! बात मानि मेरी तू भाई।
शास्त्र सबनि के नेत्र देइ उन बिनु न दिखाई॥
का है जग करतव्य कौन करिबो नहिं कारज।
करैं अनारज काहि कौन सो है पथ आरज?

सबमें शास्त्र प्रमाण हैं, पारथ जाकूँ हिये धरि।
जो जग है करतब करम, शास्त्र विधी तैं ताहि करि॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत् गीता उपनिषद् जो
ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन
के सम्वाद रूप म है, उसम "दैवासुर सम्पद्
विभाग योग" नाम का सोलहवाँ अध्याय
समाप्त हुआ ॥१६॥

॥ अथ ॥

सप्तदशोऽध्याय

(१७)

त्रिविधा-श्रद्धा

[१]

अर्जुनउवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः ॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥*

(श्री भ० गी० १७ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

अरजुन पूछन लगे--शास्त्र विधि नाथ ! बताई ।
सुनिकें प्रभु के वचन एक शंका मन आई ॥
जो विधि शास्त्रनि त्यागि करें श्रद्धा तें अरचन ।
होवे देवनि भक्ति करें नित नियमित पूजन।
उनिकी इस्थिति कौन-सी, है सात्विक या राजसी।
नाथ ! मोर संशय हरें, है अथवा वह तामसी ॥

* इस पर अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! जो पुरुष शास्त्र की विधि

श्रद्धामय ही पुरुष होता है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका फल भी वैसा ही होता है। एक महात्मा पर्यटन करते हुए एक नगर मे पहुँचे। उनको भोजन कराने के लिये एक लुहार मक्का की मोटी मोटी दो रोटी लाया। उसी समय उस गाँव का भूमिधर भी अच्छे-अच्छे पकवान् बनवाकर लाया। महात्मा ने उन दोनों मे से लुहार की रोटी लेकर भगवान् को अर्पण करके खाली। नियमानुसार उनमे से एक टुकड़ा श्वान आदि अन्य जीवो को छोड़ दिया।

इस पर वह भूमिधर बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महात्माजी से पूछा—"क्यों महात्मा जी! मै इतने सुदर-सुदर पदार्थ आपके लिये लाया था, आपने मेरे लाये इतने सुन्दर पदार्थों का तिरस्कार करके इस निर्धन लुहार की लायी हुई रोटियो को क्यो खाया ?"

यह सुनकर महात्मा हँसे और बोले—'देखो, भाई हम साधु हैं, हम रक्त का भोजन नही करते।" दूध का भोजन करते हैं।"

उसने कहा—"रक्त यहाँ कहाँ है, मै तो पूड़ी हलुआ, खीर आदि लाया हूँ।"

तब महात्मा ने उस लुहार की रोटिया मे से बचे टुकड़े को एक हाथ मे लिया, दूसरे हाथ मे उस भूमिधर के लाये हलुआ खीर का कुछ अश लिया। दोनों को हाथो से मसलने लगे। तो लुहार का रोटियो के टुकडे से तो दूध की बिन्दुए गिरने लगीं

को छोड़कर केवल श्रद्धा से समन्वित होकर यजन करते हैं, उनकी निष्ठा क्या है? सात्विकी है, राजसी अथवा तामसी है ?॥१॥

इस पर श्रीभगवान् ने कहा—'देखो, मनुष्यो की वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी। उन तीनों के सम्बन्ध मे मुझसे सुनो ॥२॥"

और भूमिधर के अन्न से रक्त की विन्दुएँ गिरने लगीं। तब महात्मा ने कहा—"देखो, इस लुहार का अन्न है तो रूखा सूखा किन्तु इसमें दो गुण है, एक तो यह अत्यन्त श्रद्धा और दीनता से लाया हुआ है, दूसरे यह परिश्रम से उपार्जित अन्न है। इसलिये इसमें से दूध के विन्दु निकले। तुम्हारे अन्न में दो दोष हैं, एक तो यह अहंकार पूर्वक लाया हुआ है और दूसरे यह अन्न निर्धनों का रक्त चूस कर अन्याय से उपार्जित किया हुआ है।" यह सुनकर भूमिधर लज्जित हुआ।

इस कथा से दो बातें सिद्ध हुईं। जो अन्न न्याय से परिश्रम पूर्वक अर्जित भी हो और श्रद्धा पूर्वक लाया गया हो, वह सात्त्विक अन्न है। दूसरे जो अन्याय से दूसरों को क्लेश पहुँचाकर अर्जित किया गया हो और अहंकार पूर्वक लाया गया हो वह तामस अन्न है, किन्तु एक शंका इसमें रह ही गयी। एक अन्न है वह न्याय से परिश्रम पूर्वक उपार्जित तो है अर्थात् अन्न तो विशुद्ध है, किन्तु वह श्रद्धा पूर्वक नहीं लाया गया, उसकी कौन-सी संज्ञा होगी? इसके विपरीत अन्न तो अन्यायोपार्जित अशुद्ध है, किन्तु लाने वाला उसे अत्यन्त श्रद्धा से लाया है उसकी कौन-सी संज्ञा होगी?

ऐसी ही शंका अर्जुन को हुई। दैवासुर सम्पद् विभाग योग में भगवान् ने दैवी सम्पदाओं का तथा आसुरी सम्पदाओं का वर्णन किया। अन्त में कह दिया यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। जो शास्त्र विधि से श्रद्धा पूर्वक कार्य करते हैं वे दैवी सम्पदा वाले पुरुष हैं, जो शास्त्र विधि का परित्याग करके अश्रद्धा पूर्वक कार्य करते हैं, वे आसुरी प्रकृति के पुरुष हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी दो प्रकार के पुरुष बन जाते हैं। एक तो ऐसे जो शास्त्र की बाह्य विधियों का तो भली भाँति पालन करते हैं, किन्तु उनमें श्रद्धा का अभाव है। जैसे दक्ष का

यज्ञ। दूसरे वे होते हैं जिनमे करने की श्रद्धा तो पूरी है, किन्तु शास्त्रीय विधियो का पूर्णरीत्या पालन नही किया किया गया जैसे त्रिशंकु का यज्ञ। राजा त्रिशकु के अपराध के कारण गुरु वसिष्ठजी ने उसका परित्यागकर दिया था। फिर भी वह श्रद्धापूर्वक यज्ञ करना चाहता था, वह दीन होकर यज्ञ कराने के लिये श्रद्धापूर्वक गुरु की शरण मे गया। गुरु ने कहा—"तुम चाडालता को प्राप्त हो चुके हो, शास्त्रोय आज्ञानुसार तुम यज्ञ करने के अधिकारी नहीं हो। इस पर वह बडा दुखी हुआ। उन दिनो विश्वामित्र और वसिष्ठ मे ब्राह्मणपने को लेकर बडी लाग डांट चल रही थी। विश्वामित्रजी कहते थे मै भी तपस्या करता हूँ, मुझे ब्राह्मण कहो। वसिष्ठजी कहते थे— 'तुम में ब्राह्मणो जैसे क्षमा आदि गुण ही नही, हम तुम्हे ब्राह्मण नहीं कहते। इस पर क्रुद्ध होकर विश्वामित्रजी ने वसिष्ठ जी के पुत्रों को मार डाला और प्रतिस्पर्धा मे भरकर त्रिशकु से कहा— "वसिष्ठ यज्ञ नही कराते हैं, तो मैं तुम्हे यज्ञ कराऊंगा और तुम्हे सशरीर स्वर्ग पठाऊंगा।" ऐसा कहकर वे उस यज्ञ कराने लगे। यज्ञ मे उन्होने वसिष्ठजी को भी बुलाया। वसिष्ठ जी ने कह दिया— 'जिस यज्ञ का कराने वाला आचार्य क्षत्रिय हो और करने वाला चाडाल हो, यह यज्ञ अशास्त्रीय है हम ऐसे यज्ञ मे नही जाते।

त्रिशकु की श्रद्धा मे कोई कमी नही थी किन्तु उसमे शास्त्रीय विधियों का यथावत् पालन नही हुआ था, तो वह यज्ञ दैव यज्ञ भी नही। क्योंकि शास्त्रीय विधियो का उल्लङ्घन हुआ और आसुरी भी नहीं कह सकते क्योंकि वह श्रद्धा पूर्वक किया गया था, तो अर्जुन की शंका यही है, कि शास्त्र विधि को छोडकर श्रद्धा पूर्वक किये हुए ऐसे यज्ञ को किस श्रेणी मे रखा जाय?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब अर्जुन ने एक नूतन शंका की।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! अर्जुन ने नई शंका क्या की ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! अर्जुन ने भगवान् से पूछा—"प्रभो ! कृपा करके आप यह बतावें कि जो लोग श्रद्धापूर्वक देवपूजन, यज्ञ यागादि कर्मों को तो करते हैं, किन्तु शास्त्र विधि का आलस्य के कारण, परिस्थिति के कारण तथा अज्ञता के कारण पालन नहीं कर सकते। तो उनकी निष्ठा को-उनकी स्थिति को आप-किस श्रेणी में रखेंगे ? उनकी निष्ठा को सात्त्विकी निष्ठा कहेंगे या राजसी निष्ठा कहेंगे अथवा उसे तामसी निष्ठा के अन्तर्गत रखेंगे ?"

अर्जुन के इस गम्भीर प्रश्न को सुनकर भगवान् गंभीर हो गये। उन्होंने झट से इसका उत्तर नहीं दे दिया कि उनकी निष्ठा मिली जुली मानी जायगी। शास्त्र विधि को छोड दिया है, इसलिये तामसी हुई, श्रद्धा के साथ किया गया है, इसलिये सात्त्विकी निष्ठा हुई। ऐसे भगवान् ने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। भगवान् ने कहा—"भाई, सबसे पहिले उसकी श्रद्धा की परीक्षा करनी होगी।"

अर्जुन ने कहा—"श्रद्धा की परीक्षा कैसे होती है भगवन् !"

भगवान् ने कहा—'हे भरतवंशावतंस ! सभी प्राणियों की श्रद्धा उनके सत्त्व के अनुरूप हुआ करती है।"

अर्जुन ने पूछा—"सत्त्व के अनुरूप कैसे ?"

भगवान् ने कहा—'प्राणिमात्र की श्रद्धा उसके स्वभावानुकूल ही हुआ करती है। जिसका जैसा अन्तःकरण होता है, उसकी श्रद्धा भी वैसे ही होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो क्या श्रद्धा के भी भेद हैं क्या ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ श्रद्धा भी एक न होकर कई प्रकार की होती है ?"

अर्जुन ने पूछा—"कै प्रकार की श्रद्धा होती है ?"

भगवान् ने कहा—"देह धारियों की स्वभावानुसार प्रकट हुई श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। सात्त्विकी श्रद्धा, राजसी श्रद्धा और तामसी श्रद्धा।"

अर्जुन ने कहा—"कृपा करके इन तीनों के लक्षण बताइये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, इस विषय को मैं तुम्हे बताता हूँ, उसे तुम श्रवण करो।'

सूतजी कहते है—'मुनियो ! अब भगवान् त्रिविधा श्रद्धा के सम्बन्ध मे जो आगे बतावेंगे, उसे आप सब श्रद्धा पूर्वक ही सुनने की कृपा कीजिये।'

छप्पय

बोले श्रीभगवान्—पार्थ ! विस्तार बताऊँ।
श्रद्धा कै विधि होइ तोइ सबई समझाऊँ॥
श्रद्धा के द्वै भेद शास्त्रजा अरु स्वभावजा।
जो स्वभावजा होहि तीनि विधि तू सब सुनिजा॥
कही तीनि परकार की, वही सात्त्विकी राजसी।
श्रद्धा-श्रद्धा भेद है, होहि वही पुनि तामसी॥

श्रद्धा अन्तःकरणानुरूप होती है

(२)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥*

(श्री भा० गी० १७ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

जैसो होवै पुरुष तासु श्रद्धा होवै तस।
होवै अन्तःकरन जासु श्रद्धा होवै जस॥
मनई के अनुरूप सबनि की श्रद्धा होवै।
श्रद्धामय यह पुरुष देव श्रद्धा तैं जावै॥
जैसी श्रद्धा जासु की, वह वैसो ही स्वयं नर।
सात्त्विक, राजस, तामसी, श्रद्धा के अनुरूप कर॥

एक ही वस्तु है पात्र भेद से उसका गुण भिन्न भिन्न हो जाता

---

* हे भारत ! सभी की श्रद्धा उसके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला होता है, वह स्वयं भी वैसा ही होता है ॥३॥

सात्त्विक पुरुष देवताओं का यजन करते हैं, राजसी पुरुष यक्ष राक्षसों का तथा तामसी लोग प्रेत भूतगणों को पूजते हैं। ४॥

है, एक ही उपदेश है, पात्र भेद से उसे भिन्न-भिन्न अधिकारी भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करते हैं। पात्रभेद से वस्तुओं का स्वरूप भिन्न हो जाता है। जैसे वर्षा का जल है वह यदि नदी या कूप मे पडता है, तब तो मीठा पेय बन जाता है, वही समुद्र में पडने से खारा हो जाता है। विद्या, धन और शक्ति तीनों ही सुन्दर गुण हैं, किन्तु साधु पुरुष के समीप ये गुण हो, तभी इनकी सुन्दरता है। साधु पुरुषो पर विद्या हो, तो उसके द्वारा वे ज्ञानार्जन करेंगे। धन हो, तो उसे दान कार्यों मे व्यय करगे। शक्ति हो, तो उससे दीन दुखियो का संरक्षण करगे। इसके विपरीत ये ही दिव्य गुण खल पुरुषो के पास आ जायँ। तो वे खल लोग विद्या का उपयोग विवाद के लिये, धन का उपयोग मत्सर मद के लिये और शक्ति का उपयोग पर पीडन के लिये करेंगे। पात्र भेद से इन गुणो के फल मे भी भेद हो जाता है।

वृहदारण्यकोनिषद् मे एक कथा आती है। एक बार देवताओ ने सोचा—'लोक पितामह ब्रह्मा हमारे पूज्य हैं श्रेष्ठ हैं, चलो उनसे कुछ उपदेश ग्रहण करें। देवताओ के अभिप्राय को जानकर मनुष्यो ने सोचा—हमको भी पितामह से उपदेश ग्रहण करने चलना चाहिये। तब असुरों ने परस्पर मे सम्मति की—पितामह, देवता तथा मनुष्यों के ही पितामह थोड़े ही हैं, वे तो हमारे भी पितामह हैं, सबके पितामह हैं, अतः उपदेश ग्रहण करने मे हम किसी से पीछे क्यों रहें। अतः वे भी उनसे उपदेश ग्रहण करने चले।

पहिले यह नियम नही था, कि तुरन्त पहुँचे प्रवचन सुना—उपदेश श्रवण करके तुरन्त चल दिये। गुरुजन जाते ही उपदेश देने नही लगते थे। चिरकाल तक उनके समीप निवास करो, उनकी श्रद्धा पूर्वक सेवा करो, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए

यम नियम पूर्वक उनके निकट नियास करो, तब यहीं चिरकाल मे गुरुजन उपदेश दिया करते थे। अतः देव, असुर तथा मनुष्यों ने नियमानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए लोक पितामह की सेवा शुश्रुषा की। उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा जी ने सर्व प्रथम देवताओ से ही पूछा—"कहो तुम क्या चाहते हो ?"

देवताओ ने कहा—"भगवन् ! हम उपदेश ग्रहण करने के निमित्त आपकी सेवा मे समुपस्थित हुए हैं, हमे हमारे अनुरूप उपदेश दीजिये।"

ब्रह्माजी ने बहुत बड़ा उपदेश न देकर केवल कह दिया—"द"।

देवताओ ने उसे शिरोधार्य किया और वे प्रसन्न हुए उन्होने उस "द" का अपने अन्तःकरण के अनुरूप अर्थ निकाल लिया। वे सदा स्वर्ग मे निवास करते हैं। वहाँ भोगो की भरमार रहती है वहाँ जरावस्था व्यापती नही, देवताओ की कभी मृ यु होती नही। पुण्य क्षीण होने पर भोग समाप्त होने पर वे मरते नही, न.चे ढकेल दिये जाते है। जब तक स्वर्ग मे रहते हैं। सदा इन्द्रिय भोगो मे ही सलग्न रहते हैं। उनके शरीर स दुर्गन्ध नहीं आती, पसीना नहीं निकलता सदा मल रहित युवा बने रहत हैं, ऐसी हा युवती अप्सरायें उनकी सेवा मे सन्नद्ध रहती है भागो मे ही सतत आसक्त रहने के कारण इन्द्रियो के दमन का उन्ह अवसर ही प्राप्त नही होता है। अतः लोक पितामह के 'द' का अर्थ उन्होने अपन अन्तःकरण मे दमन लगाया।

ब्रह्माजी ने पूछा—'देवताओ ! मेरे उपदेश का तुम अभिप्राय समझ गये न ?"

देवताओ ने कहा—'हाँ, भगवन् ! समझ गये।"

ब्रह्माजी ने कहा—"क्या अभिप्राय समझे ?"

देवताओं ने कहा—"भगवन् ! आपने हम लोगों को जो सदा सर्वदा इन्द्रिय भोगो मे ही फंसे रहते हैं ऐसे विलासियो को "द" कहकर दमन का उपदेश दिया है। आपने यही आज्ञा की है कि सदा सर्वदा इन्द्रियो का दमन किया करो।'

यह सुनकर ब्रह्माजी हंसे और बाले—"साधु-साधु ! तुमने मेरे उपदेश का यथार्थ मर्म समझा वास्तव मे 'द' कहने से मेरा अभिप्राय दमन ही था, जाओ सावधानी के साथ मेरे उपदेश के अनुरूप आचरण करना भला ! इसी मे तुम्हारा मङ्गल होगा।"

देवताओ के चले जाने के पश्चात् मनुष्यो ने सोचा—"हम साथ ही साथ आये थे देवता तो उपदेश ग्रहण करके चले गये। अब हमें भी भगवान् प्रजापति से उपदेश के लिये प्राथना करनी चाहिये। यही सोचकर वे विनम्रता से ब्रह्माजी की सेवा मे समुपस्थित हुए और हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो ! हमे भी कुछ उपदेश करें।"

मनुष्यो की प्रार्थना पर भी भगवान् प्रजापति ने उनके सम्मुख लम्बा भाषण नही किया बहुत बडा प्रवचन नही झाडा वही एक शब्द 'द' कह दिया।

मनुष्यो ने अपनी अन्त.करण की प्रवृत्ति के अनुसार 'द' का अर्थ लगाया, उन्होने सोचा—हम मनुष्य लोग कर्मयोनि के प्राणी हैं और सकाम करने वाले प्राय. लोभी ही हुआ करते हैं। हम मनुष्यो मे लोभ की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। अर्थ सग्रह करने मे हो सदा लगे रहते है। हमे लोभाभिभूत देखकर पितामह ने 'द' कहकर दान करने का उपदेश दिया है। यह हम लोगो के लिये बहुत बडा उपदेश है। यह सोचकर वे परम प्रमुदित हुए।

ब्रह्माजी ने पूछा—"मनुष्यो ! तुम मेरे उपदेश का अभिप्राय समझ गये न ?"

मनुष्यो ने कहा—"हाँ, भगवन् ! समझ गये।"

ब्रह्माजी ने पूछा — क्या समझे ?"

मनुष्यो ने कहा—"आपने भगवन् ! हम अर्थलोलुप संग्रह प्रिय मनुष्यो को दान का उपदेश दिया है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"तुमने मेरे उपदेश का यथार्थ मर्म समझा है। तुम यही करना सदा दान देने में ही मन को लगाये रहना इससे तुम्हारा कल्याण होगा। जीवन मङ्गल मय बन जायगा। जाओ अपने-अपने स्थानो को।"

देवता और मनुष्यो के चले जाने के अनन्तर असुरो ने सोचा— हम ही पिछड़ गये। अब हमको भी पितामह के समीप जाकर उपदेश ग्रहण करना चाहिये।" यही सोचकर वे प्रजापति की सेवा मे श्रद्धा पूर्वक समुपस्थित होकर बोले—"प्रभो ! हमें भी कुछ उपदेश देने की कृपा करें।"

ब्रह्माजी ने उनको भी वही एक 'द' शब्द का ही उपदेश दिया। इससे असुरगण बड़े हर्षित हुए।

असुरो ने सोचा—"हम स्वभावत: हिंसा वृत्ति वाले हैं। हिंसा मे हमारी नैसर्गिकी प्रवृत्ति है, अतः प्रजापति ने हमे 'द' का उपदेश देकर 'दया' करने की आज्ञा दी है। जिससे हम क्रोध तथा हिंसा पर विजय प्राप्त कर लें।"

ब्रह्माजी ने पूछा— 'कहो भाई असुरो ! मेरे उपदेश का तुम लोगो न अभिप्राय समझ लिया न ?"

असुरो ने कहा—"हाँ, भगवन् ! समझ लिया।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"क्या समझे ?"

असुरो ने कहा— 'आपने प्रभो ! हम क्रोध हिंसा प्रिय

असुरों को 'द' कहकर प्राणी मात्र पर "दया" करने का उपदेश दिया है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"असुरो! तुमने उपदेश का यथार्थ अर्थ समझा है। तुम्हारा कल्याण दया करने से ही होगा। तुम सबसे द्वेष भाव छोड़कर जीव मात्र पर दया करना। इसी में तुम्हारा भला है। तुम्हारा कल्याण हो तुम अब अपने-अपने स्थानों को जा सकते हो।"

अब विचार कीजिये। उपदेश करने वाले एक ही ब्रह्माजी और तीनों को ही एक-सा एक ही 'द' शब्द का उपदेश दिया, किन्तु उस एक ही 'द' को पूर्व जन्मों की वासना रूप श्रद्धा की विचित्रता से, तीनों ने अपने-अपने अन्तःकरण के अनुरूप अधिकार भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ लगा लिये। श्रद्धा तीनों में एक सी ही थी। ब्रह्माजी ने उपदेश भी एक सा ही दिया किन्तु अपनी-अपनी सत्त्वानुरूपा श्रद्धा के कारण उस उपदेश के रूप भिन्न-भिन्न हो गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! त्रिविधा श्रद्धा के सम्बन्ध में अर्जुन को बताते हुए भगवान् कहने लगे—अर्जुन! सभी प्राणियों की श्रद्धा उसके अन्तःकरण के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, अतः यह कहना कठिन है, कि जो शास्त्र की विधि का परित्याग करके श्रद्धा पूर्वक यजन करते हैं, उनकी निष्ठा एक ही प्रकार की होगी। पहिले तो सोचना यह पड़ेगा कि इसने शास्त्र की विधि का परित्याग किस भाव से किया। एक तो जो शास्त्र को न मानकर शास्त्र विधि का त्याग करने वाले हैं, दूसरे अज्ञान वश त्याग करने वाले हैं, तीसरे परिस्थितियों से विवश होकर शास्त्रज्ञ पुरुष न मिलने से शास्त्र विधि का ज्ञान न रखकर श्रद्धा पूर्वक जैसी अन्तःकरण की प्रवृत्ति हुई वैसा ही यजन पूजन

कर दिया। इस प्रकार करने वाले की स्थिति के ऊपर निष्ठा निर्भर करती है। दूसरे उन पात्र को देखकर भी श्रद्धा का अनुमान किया जा सकता है। कर्त सात्त्विक अन्तःकरण वाला है अथवा राजस या तामस प्रवृत्ति का है। इन दोनों ही बातों को देखकर उसकी निष्ठा के सम्बन्ध में तुम्हें स्वतः ही निर्णय करना होगा।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसा भेद क्यों हो जाता है?"

भगवान् ने कहा—"यह कर्माधिकारी पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है। उसी के अनुरूप वह पुरुष भी वही है। अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा वाला सात्त्विक पुरुष राजसी श्रद्धा वाला राजस पुरुष और तामसी श्रद्धा वाला तामस पुरुष।"

अर्जुन ने पूछा—"हम किसी के यजन पूजन को देखकर कैसे जाने कि यह सात्त्विक यजन करने वाला है यह राजस यजन करने वाला है और यह तामस यजन करने वाला है। जब हमें पता लग जाय कि यह कर्ता सात्त्विक है यह राजस या तामस तो फिर उसी के अनुरूप उसकी सात्त्विकी राजसी और तामसी श्रद्धा का भी अनुमान हो सकता है।"

भगवान ने कहा—"देखो यजन याजन की विधि से, यजन की सामग्री से और मुख्यतया यजन करने वाले के इष्ट देवता से उसके सात्त्विक, राजस और तामसपने का अनुमान लगाया जा सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"इष्टदेवता से सात्त्विक राजस और तामस कर्ता की पहिचान क्या है?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जो सात्त्विक प्रकृति के पुरुष हैं, वे सात्त्विक देवताओं का पूजन किया करते हैं। जो राजस प्रवृत्ति के पुरुष होते हैं, वे राजसी यक्ष राक्षसों का पूजन करते

हैं और तामसी प्रकृति के पुरुष भूत, प्रेत पिशाचो की पूजा करते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय विधि से रहित श्रद्धा पूवक यजन करने वालो की निष्ठा तीन प्रकार की है, एक तो सात्विक प्रकृति के दूसरे राजसी या तामसी प्रकृति के। कोई-कोई ता पूर्व जन्म के पुण्य के प्रभाव से अपनी पूर्ण श्रद्धा के कारण राजस तामसपने का परित्याग करके सात्विक वन जाते हैं। कुछ सात्विक प्रकृतिक से यजन करके महापुरुषो का सग पाकर शास्त्रीय विधि को अपना लेते हैं, वे कल्याण के भागी वन जाते हैं, किन्तु जो दुराग्रहण पूर्वक शास्त्रीय विधि का दृढ़तया पालन ही न करके अशास्त्रीय विधि से यजन पूजन या तपस्यादि करते हैं, तो ऐसे रजोगुणी तमोगुणी पुरुषों का अध.पात ही होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे पुरुष कैसे होते हैं और उनका अधःपात किस प्रकार होता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

होवै सात्विक पुरुष सात्विकी श्रद्धा ताकी।
सात्विक देवनि पूजि होहि ममता अति वाकी॥
राजस श्रद्धा युक्त यक्ष अरु राक्षस पूजें।
यक्ष राक्षस छोड़ि और समुझै नहिं दूजे॥
जो हैं तामस प्रकृति के, तामस ही पूजा करें।
भूत प्रेत नित पूजि कें, तिनि ही कूँ हिय में वरें॥

—०—

दम्भ अहंकारयुक्त तपादि करने वाले आसुरी प्रकृति के हैं

[२]

अशास्त्र विहित घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥*

(श्री भा० गी० १७ अ० ५,६ श्लोक)

छप्पय

निज स्वभाव अनुसार करैं श्रद्धा सुख पावैं।
किन्तु न श्रद्धा जिनहिँ तपैं तिनि गति बतलावैं॥
रहित शास्त्र विधि करैं घोर तप नित मनमानों।
देहिँ देह कूं क्लेश तपस्वी दम्भी जानों॥
करें कामना सहित वे, अहकार संयुक्त चित।
दम्भ और आसक्ति बल, रहैं सदा अभिमान युत॥

---

* जो पुरुष शास्त्रविधि से रहित घोर तप को तपते हैं और अभिमान तथा दम्भ से युक्त होकर, काम राग तथा बल से सम्पन्न होकर—॥५॥

शरीर में स्थित, भूत समुदायरूप तथा सबके अन्तःकरण में स्थित मुझे सुखाते हैं—कृश करते है—उन अज्ञानियों को तुम आसुरी प्रकृति के समझो ॥६॥

शास्त्रकारों ने व्रत उपवास, तपादि के नियम बताये हैं। जो अनियमित अशास्त्रीय व्रत, उपवास तपादि करता है, वह दोषी माना जाता है, क्योंकि कार्य और अकार्य के सम्बन्ध में शास्त्र ही प्रधान रूप से प्रमाण है। भक्ति मार्ग में तप, व्रत, ज्ञान, वैराग्य की प्रधानता नहीं। वहाँ तो भक्ति की, भगवत् आराधना को प्रधानता है। सेवा ही वहाँ प्रधान मानी जाती है। एक बार श्रीकृष्ण का सारथी दारुक भगवान् को पंखा झल रहा था, भगवान् के कोटि कंदर्प के रूप को भी लज्जित करने वाले स्वरूप को देखते-देखते उसे भाव समाधि लग गयी। पंखा हाथ से गिर गया, और वे भाव समाधि में विभोर होकर गिर गये। कुछ काल के पश्चात् उनकी समाधि का व्युत्थान हुआ। शनैः-शनैः उन्हें शरीर की सुधि बुधि होने लगी। उन्होंने देखा पंखा नीचे पड़ा है, भगवान् उनकी दशा देखकर मंद-मंद मुस्करा रहे हैं। ऐसी उच्चकोटि की समाधि अवस्था प्राप्त करके दारुक को परम प्रसन्नता होनी चाहिये थी, किन्तु उन्हें समाधि से प्रसन्नता न होकर महान् दुःख हुआ। वे बार-बार अपनी समाधि को धिक्कारने लगे। जो समाधि भगवत् सेवा से वंचित कर दे उस समाधि को धिक्कार है। सेवा के सम्मुख समाधि का महत्त्व ही क्या है? इसी प्रकार भक्ति मार्ग का अनुगामी व्रत, उपवास, कठिन तप आदि को महत्त्व नहीं देते। वे तो आठों प्रहर भगवान् की सेवा, पूजा, उपासना, कैंकर्य, अर्चना, वन्दना आदि में ही तल्लीन रहना चाहते हैं। इस तन्मयता को वे लाख तपस्याओं से श्रेष्ठ समझते, क्योंकि भक्ति मार्ग में भजन, पूजन भावभक्ति की ही प्रधानता है।

इसके विरुद्ध वर्णाश्रम धर्म में कर्तव्य कर्म की प्रधानता है। क्षत्रिय अपने प्रजापालन रूप कर्म का परित्याग करके वह यदि

त्याग का संन्यास का दम्भ करता है, तो वह इतना उच्च धर्म करने पर भी पाप ही करता है। वैसे शास्त्रों में बताये व्रत उपवासादि तप सर्वश्रेष्ठ है। अनशन–भोजन न करना–यह सर्वश्रेष्ठ तप है, इसके बराबर दूसरा कोई तप ही नहीं। किन्तु यह तपस्या दम्भ तथा अहंकार से रहित होनी चाहिये। और तपस्या का पात्र भी योग्य होना चाहिये। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार तपस्या के भी अधिकारी सब नहीं हो सकते। तपस्या करने वाला दम्भ, अहंकार से वर्जित, विशुद्ध वंश वाला कुलीन सत्कर्म परायण व्यक्ति ही होना चाहिये। अपात्र के द्वारा गृहीत उत्तम वस्तु भी दुर्गुणी हो जाती है। जैसे शस्त्र है सुपात्र के समीप रहेगा, तो वह अपनी तथा दूसरों की रक्षा कर सकेगा, उसी शस्त्र को किसी अज्ञ बालक के हाथ में दे दो तो वह उससे अपनी नाक ही काट लेगा, अंग भंग कर लेगा। इसीलिये वर्णाश्रम धर्मानुसार सत्ययुग में एकमात्र केवल ब्राह्मणों को ही शास्त्र विहित तपस्या का अधिकार था, शेष तीन वर्ण के लोग अपने अपने कर्तव्यों का तत्परता से पालन करते रहे। दम्भ और अहंकार से वर्जित तपस्या के ही प्रभाव से ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने जाने लगे। ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता देखकर कुछ लोगों के मन में ईर्ष्या जागृत होने लगी—"ब्राह्मणों में ही ऐसी कौन-सी विशेषता है, जो रक्त, मांस अस्थि आदि उनके शरीर में है, वे ही हमारे शरीर में भी है, फिर वे श्रेष्ठ क्यों ? हम कनिष्ट क्यों ? हम भी तपस्या करके श्रेष्ठत्व को प्राप्त करेंगे। सत्ययुग में विशुद्ध धर्म ही धर्म था, वहाँ अधर्म का नाम भी नहीं था। ब्राह्मणों का श्रेष्ठत्व केवल तप के ही कारण था। जब कुछ लोगों के मन में ईर्ष्या आ गयी तो धर्म के एक पाद का ह्रास हो गया। सत्ययुग में धर्म तप, के शौच, दया और सत्य ये चार पाद

थे। ईर्ष्या के कारण तप बंट गया कम हो गया। उसे क्षत्रियो ने भी धारण कर लिया। इसलिये धर्म के तीन पाद ही सुरक्षित रहने से वह युग त्रेता के नाम से विख्यात हो गया। जब ब्राह्मण क्षत्रिय दोनो ही तप करने लगे तब दोनो मे कोई अन्तर ही नही रह गया। समान हो गये, तब वेदज्ञ ऋषियो ने मनु आदि धर्म प्रवतको ने सर्वलोक सम्मत चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की स्थापना की। तपस्या मे तो ब्राह्मण क्षत्रिय समान हो गय। शौच (पविअता) सबधी भेद कर दिये। ब्राह्मणो को इतने बार शौच के अनन्तर हाथ घोने चाहिये। क्षत्रिय को इतने बार। शौच सम्बन्धी भेद देखकर कुछ लोगो को पुन ईर्ष्या हुई तो उन लोगो ने भी तपस्या को अपनाया और तपस्वियो जसा-आचार व्यवहार करने लगे। तब धर्म के तप और शौच दो पादो मे ह्रास होने से द्वापर युग हुआ। उसमे तपस्या शौच समान होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य भी तपस्या मे प्रवृत्त होन लगे। तब फिर कुछ लोगो को ईर्ष्या हुई। इससे वे भी तप, शौच, के साथ दया को अपनाने से तोन पैरो मे ह्रास होने के कारण कलियुग आ गया। कलियुग में तो एक मात्र सत्य ही शेष रहा। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी समान हो गये। सभी तपस्या करने लगे, सभी शौच और दया का दम्भ करने लगे। एकमात्र सत्य के ही सहारे कलियुग धर्म जीवित है अन्त मे सत्य भी जब नष्ट हो जायगा, तब भगवान् का कल्कि अवतार होगा, पुन चतुष्पाद धम की स्थापना हो जायगी।

ईर्ष्या से ही अधम बढता है। अधर्म के ही भाई दम्भ और अहंकार है। तप मे दम्भ, शौच मे दम्भ, दया मे दम्भ और सत्य में भी दम्भ। दम्भ यह अधर्म का पुत्र है, इसने सर्वत्र अपना अधिकार जमा रखा है। जब सत्ययुग था तब एक वर्ण तपस्या

राजा राम के महल के द्वार पर धरना दिया। रामजी घबरा गये। उसी समय आठ महर्षि देव सयोग से आ गये। श्री राम ने उनके सम्मुख अपना अभियोग रखा है। उन्होंन कहा— यथार्थ मे यह बालक राजा राम के ही पाप से मरा है। उनके राज्य का काई शूद्र अपने सेवारूप स्वधर्म को छोड कर तपस्या रूप परधर्म का दम्भ अहकार से युक्त होकर पालन कर रहा है। राम को उसे निवारण करना चाहिये।

श्रीराम न तुरन्त पुष्पक विमान मंगया, घोडे रथादि पर चढ कर जाते तो देर लगती। बच्चे के मृतक शरीर के सड जाने का भी भय था, उमे सुगन्धित तेल म भरी नौका म रखकर रामजी पुष्पक विमान से–वायुयान से–अधर्म कहाँ हो रहा है, खोजते-खोजते गये। दक्षिण दिशा मे उन्होने देखा एक पेड पर एक तपस्वा उलटा लटक कर नीचे मुख किये घोर तप कर रहा है। भगवान् ने उसकी तपस्या मे दम्भ अहकार के लक्षण देखे। उसके समीप जाकर पूछा— हे तपस्वी आप किस फल की अभिलाषा से ऐसा उग्र तप कर रहे है, आप पहिले कौन सा– कार्य करते थे। किस वर्ण धर्म का पालन करते थे ?"

उस तपस्वी ने कहा— राजन् ! मैं तपस्या द्वारा इसी मानव शरीर से देवलोक पर विजय प्राप्त करके देवता बनना चाहता हूँ। मैं सशरीर स्वर्ग जाने के लिये घोर तप कर रहा हूँ। मैं शूद्र वर्ण का हूँ, नाम मेरा शबूक है।"

श्रीराम जी ने कहा—"तुम युग धर्म, वर्ण धर्म के विरुद्ध काम कर रहे हो, अपने कतव्य से च्युत होकर भयावह परधर्म को अपना रहे हो। तुम शास्त्रीय विधि के विरुद्ध–देश काल के विधान के प्रतिकूल आचरण कर रहे हो अत. वध के योग्य हो। मैं राजा हूँ, मेरा कर्तव्य है विधि विपरीत आचरण करने

वालो को दंड दूं। अतः तुम्हे कठोर से कठोर प्राण दंड देता हूँ। यह कहकर श्रीराम ने अपने कर्तव्य का तत्परता से पालन किया। वही तुरन्त उसका वध कर दिया। राजा के दृढता पूर्वक कर्तव्य पालन रूप धर्म के कारण ब्राह्मण बालक तुरन्त जीवित हो उठा। अतः राजा का कर्तव्य है, वह प्रजा मे आसुरी प्रवृत्ति वढने न दे। आसुरी निश्चय वालो को तुरन्त कठोर से कठोर दन्ड दे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से यह पूछा कि राजस तामस स्वभाव के-आसुरी प्रकृति के-पुरुषो का पतन कैसे होता है, तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! जो पुरुष शास्त्र मे कहे हुए नियमों के विरुद्ध शास्त्रीय नियमो की अवहेलना करके मैं वहुत श्रेष्ठ हूँ इस अभिमान मे भरकर, स्वय धार्मिक न होने पर भी दम्भ के कारण अपने को धार्मिक प्रकट करने के निमित्त, घार तपस्या करते हैं वे आसुरी प्रकृति हैं"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! तपस्या कोई बुरी वस्तु तो है नही। तपस्या तो शुभ कर्म ही है वह चाहे अहंकार और दम्भ पूर्वक ही क्यो न हो, तपस्या का फल तो उन्हे मिलना ही चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया! फल तो भावना के अनुरूप ही मिलता है। जसो जिसकी भावना होती है वैसा उसे फल मिलता है। वे तपस्या को कर्तव्य समझकर निष्काम भाव से तो करते नहीं। वे तो काम और बल से सम्पन्न होकर काम भोगो की तृप्ति के निमित्त करते हैं। विषयो की अभिलाषा ही उनके तप का उद्देश्य है। अतः अपनी कामना के प्रति जो उनकी आसक्ति है, उस आसक्ति के कारण उस कार्य मे जिनका अत्यन्त

अभिनिवेश हो गया है, उसके कारण वे गर्व में भरकर बल पूर्वक कहते हैं मैं तपस्या द्वारा इस कार्य को अवश्य ही सिद्ध कर लूँगा। ऐसा निश्चय करके घोर से घोर तपस्या करते हैं। कोई शरीर को जला देते हैं, कोई शरीर के अङ्गों को काट-काट कर उनका हवन कर देते हैं। वे आसुरी प्रकृति के है।'

अर्जुन ने कहा—"वे आसुर क्यो हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो प्राणों में ही रमण करे, विषय भोगों को ही सब कुछ समझे, इस शरीर को ही अजर-अमर रखने का प्रयत्न करे। वही असुर है। ये लोग घोर तपस्या करके अन्त में यही वर मांगते है मेरा शरीर अजर-अमर रहे इसकी भोग भोगने की शक्ति कभी नष्ट न हो। इसी के निमित्त इतने घोर कष्ट उठाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"स्वय ही तो कष्ट उठाते हैं, किसी दूसरे को तो कष्ट नही देते?"

भगवान् ने कहा—"दूसरो को कष्ट क्यो नही देते। देखो, इस शरीर मे पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश ये पचभूत हैं। इन्द्रियाँ है, इन्द्रियो के अधिष्ठातृ देवता है, अन्तः शरीर में भोक्ता रूप से मुझको जो बुद्धि मन तथा इन्द्रियो को साक्षी रूप मैं हूँ इन सब का व कष्ट पहुँचाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—'भूतो को कष्ट कैसे पहुँचाते हैं?"

भगवान् न कहा—अरे भाई, शरीर को जला देना, उसे कृश बना देना। यह भूतो को कष्ट है। शास्त्र रूप मे जो मैं हूँ, मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन करना यह मुझको कष्ट पहुँचाना है। ऐसे पुरुषो को तुम असुर ही समझो।"

अर्जुन ने पूछा—"तब ये जो तपस्वी लोग तपस्या करके

शरीर कृश बनाते हैं। वे सब ही भूत ग्रामों को तथा शरीर में स्थित आपको दुखी ही करते होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"शास्त्र विहित तपस्या करने वाले, निष्काम भाव से दम्भ और अहंकार से रहित तपस्या करने वाले सौम्य और मृदु तपस्वो है, उनका शरीर कितना भी कृश क्यों न हो जावे वे न भूतों को क्लेश देते हैं न मुझे। यही नहीं ऐसे तपस्वियों से तो मैं प्रसन्न रहता हूँ। किन्तु दम्भी अहंकारी शास्त्र विरोधी तप करने वालों से तो मुझे महान् क्लेश होता है। उन असुरों को तो मैं नरक में डालता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"वे असुर न होकर मनुष्य हों तो ?"

भगवान् ने कहा—"असुर से असुर योनि वाले ही नहीं। जो असुरों जैसे काम करते हों, वे भले ही मनुष्य क्यों न हों, उन्हें तुम असुर ही समझो। जिन्होंने असुरपने के कामों को अपनाने का निश्चय कर लिया है वे मनुष्य शरीर वाले होकर असुर ही कहे जायँगे। उन्हें तुम आसुरी निश्चय वाले ही समझो। वे राजस तामस प्रकृति वाले ही होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"सात्विक राजस और तामस प्रकृति वालों की पहिचान क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जिनका आहार विहार, तप यज्ञादि कर्म सात्त्विक हों वे सात्त्विक, राजस हों वे राजस और तामस हों वे तामसी कहलाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"तो कृपा करके आहारादि सात्त्विक राजस तामस कैसे होते हैं, इनके लक्षण मुझे बता दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर जैसे भगवान् आहारादि के सात्त्विकादि लक्षण बतायेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

रहैं भूत समुदाय सतत इन्द्रिनि के माहीं।
इन्द्रिय तन में रहैं देह भौतिक बतलाईं॥
तप कर तन कृश करै मोइ हू कृश करि देवै।
अन्तःकरन निवास जीव मोकूँ दुख देवै॥
दम्भी हैं वे तपस्वी, अज्ञानी आसुर प्रकृति।
-ऐसे आसुर भाव के, तप तैं नहिँ होवै सुगति॥

आहारादि के सात्त्विकादि भेद

[४]

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥
आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

(श्री भग० गी० १७ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

सबके तीनि प्रकार तीनि तैं जगत बन्यो है।
ऐसे ही आहार तीनि विधि विज्ञ भन्यो है॥
अपनी-अपनी प्रकृति रूप प्रिय त्रिविध पदारथ।
करम त्रिविध सब कहें कहूँ सब तोइ जथारथ॥
यज्ञ त्रिविध, तप त्रिविध है, त्रिविध दान हू कहे मुनि।
थक-पृथक तोतैं कहूँ, इनि सब को तू भेद सुनि॥

---

* सभी का भोजन भी तीन ही प्रकार का प्रिय होता है और उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान भी तीन ही प्रकार के होते हैं, उन सबके भेदों को सुनो ।।७।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख तथा प्रीति को बढाने वाला, रसीला, चिकना, स्थिर हृदयग्राही आहार सात्त्विकी पुरुषों को प्रिय है ।।८।।

इस प्राकृत जगत् मे सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं। क्योंकि प्रकृति के सत्त्व, रज और तम तीन ही गुण हैं। तीनो जब कान-क्रम से समता को प्राप्त हो जाते हैं, तभी वह मूल प्रकृति हो जाती है, जहाँ विषमता हुई वहीं विकृति आ जाती है, विकृति का ही नाम संसार है। जिस वस्तु से जिसका निर्माण होता है, वह निर्मित वस्तु उसी के गुण वाली होती है। जैसे मृत्तिका से जितने भी नामरूप वाले वर्तन होंगे वे सभी मृण्मय कहलायेंगे। इसी प्रकार सत्त्व, रज और तममयी प्रकृति द्वारा जितने भी दृश्य पदार्थ होंगे वे सब त्रिगुणात्मक ही होंगे। भूर्लोक भुवर्लोक और स्वर्लोक मे ऐसा कोई नहीं जो इन तीनो गुणो से रहित हो। इन तीनों गुणो के चक्र का ही नाम संसार चक्र है। इन तीनों गुणो के चिन्हों को ही देखकर यह कहा जा सकता है, कि यह सात्त्विक है, यह राजस है, यह तामस है मनुष्यो मे ही नहीं समस्त जड चैतन्यो मे ये भेद होते हैं। बहुत-सी औषधियाँ सात्त्विक होती हैं बहुत सी राजस होती है और बहुत सी तामस होती हैं। जो व्यक्ति जैसे गुण के होने वाले होते हैं उनको वैसे ही उपकरण वाले साधन भी मिल जाते हैं।

हम जैसा आहार करेंगे, वैसी ही हमारी प्रकृति भी बन जायगी। आहार का परिपाक होकर वैसी ही रसरक्तादि धातुएँ बन जायँगी। शरीर मे भी तीन ही गुण हैं, वात, पित्त और कफ। जब ये तीनो गुण साम्यावस्था मे रहते हैं तभी ये गुण कहाते हैं तभी प्राणी नीरोग रहते हैं जब ये गुण न्यूनाधिक हो जाते हैं तभी इनकी दोष संज्ञा हो जाती है त्रिदोषो के कारण ही रोग होते है। कफ प्रकुपित हो जाता है, बढ जाता है तो पित्त और वायु न्यून हो जाते हैं। पित्त बढ जाता है तो कफ तथा वायु न्यून हो जाती है, वात बढ जाती तो कफ और पित्त

न्यून हो जाता है। इनकी चिकित्सा भी विपरीत गुणों द्वारा होती है। जैसे शरीरस्थ वात है। वह स्वभावतः रूक्ष होनी है, लघु अर्थात् हलकी होती है शीत स्वभाव से होती है गतिमान्, विशद, खर स्वाभाव की होती है। यदि वात बढ जाय, तो इसके विपरीत गुन वाले पदार्थों का सेवन करना चाहिये। जैसे वात खर (खुरदरी) होनी है चिकने स्नेहयुक्त पदार्थ खाने चाहिये, शीतल होती है अतः वात प्रकृति वालों को गर्म पदार्थो का सेवन करना चाहिये। अर्थात् पित्त के जो स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर, वटु जो लक्षण हैं उनसे वात शांत होगी। यदि पित्त बढा हुआ है तो पित्त गर्भ होता है अग्नि स्वरूप है अम्ल और वटु रस वाला है वह स्निग्ध, शीत, मृदु, आदि पदार्थों से शात होगा।

कफ भारी, शीत, मृदु, चिकना, मीठा स्थिर और लसदार विच्छल होता है, वह, हलके उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे, कडवे आदि पदार्थो से उसका शमन होता है। कफ प्रकृति के पुरुष सात्विक होते हैं, पित्त प्रकृति के पुरुष राजस होते हैं और वात प्रकृति के पुरुष तामस होते हैं। कफ प्रकृति वाले प्रायः गोरे होते हैं, पित्त प्रकृति के गेहुँए रँग के और वात प्रकृति के पुरुष काले वर्ण के होते हैं। कफ मीठे पदार्थों से जैसे गुड चीनी, फल आदि से, चिकने पदार्थों से जैसे दूध, दही, घृत, मीठे साग भाजी से, तथा गेहूँ आदि से बढता है, इससे विपरीत से शमन होता है, पित्त खट्टे, चरपरे गरम तथा कडवे पदार्थों से बढता है, मीठे, शीतल से शमन होता है, वात रूखे चना चबैना, ठंडे, बासी, से बढता है। स्निग्ध, उष्ण, मधुर मे शमन होता है। मन के रोग रजोगुण और तमोगुण द्वारा होते हैं। सत्त्वगुण से मानसिक रोग नहीं होते। आयुर्वेद शास्त्र ने सत्त्वगुण को निर्दोष माना है। सत्त्वगुण

को निर्दोष न मानें तो मोक्ष सम्भव ही नहीं। जिस प्रकृति का पुरुष होता है, उसी अपनी प्रकृति के अनुसार आहार करता है, उसी के अनुसार यज्ञ करता है, उसी के अनुसार व्रत, अनुष्ठान तपस्यादि करता है और उसी अपनी प्रकृति के अनुसार ही दान धर्म करता है। सात्त्विक प्रकृति के पुरुषों का दान भी सात्त्विक होता है, राजस प्रकृति के पुरुष दान करते हैं तो उनका दान भी राजस होता है और तामस प्रकृति के लोगों का दान भी तामसी होता है, उसी प्रकार भोजन में भी समझो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन ने कहा—"भगवन् मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण भी बनता है। अतः पहिले आप हमें आहारादि के सम्बन्ध में बता दें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन! जैसी प्रकृति का पुरुष होता है; उसी के अनुसार उसका आहार होता है। तीन प्रकृति के पुरुष होते हैं अतः आहार भी तीन ही प्रकार का होता है इसी प्रकार यज्ञ, तप और दानादि के भी तुम तीन-तीन ही प्रकार समझ लो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! मुझे आहारादि के कृपा करके भेद बता दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है सुनो। पहिले किसके भेद बताऊँ?"

अर्जुन ने कहा—"पहिले आहारों का ही भेद बता दीजिये। सात्त्विक प्रकृति के लोगों को कौन-सा आहार प्रिय है तथा राजस तामस प्रकृति वालों को कैसा आहार प्रिय है।"

भगवान् ने कहा—"पहिले सात्त्विक प्रकृति वाले पुरुषों को प्रिय आहार के ही सम्बन्ध में सुनो। जिनके तीनों गुण वान,

पित्त और कफ साम्यावस्था को प्राप्त हों, अर्थात् शरीर में निरोग हों, तो सात्त्विक प्रकृति वालों को रसीले पदार्थ जैसे रसगुल्ला हैं, गुलाब जामुन हैं, जलेबा हैं जिनमें लबालब मीठा रस भरा हो वे पदार्थ प्रिय लगते हैं। साथ ही चिकने पदार्थ उनको प्रिय होते हैं, जैसे हलुआ है, मालपूये हैं, खीर है। जो पदार्थ शरीर में रस रक्तादि सातों धातुओं को बनाकर चिरकाल तक स्थिर भाव से रहने वाले हों, जैसे बादाम का हलुआ है, आँवले का मुरब्बा है। जो पदार्थ विशुद्ध हों, पवित्र हों, सुगंधियुक्त हों, सड़े गले न हों टटके ताजी हों, जो हृदय को सुखकर हों। ऐसे पदार्थ चाहे दाल भात की भाँति खाने वाले हों, चबैना की भाँति चबाकर खाने वाले हों। आम की भाँति चूस-चूस कर खाने वाले हों, चटनी की भाँति चाट-चाट कर स्वाद ले लेकर खाने वाले हों अथवा पतली खीर की भाँति, दुध लपसी की भाँति बादाम की खीर की भाँति पीकर खाये जाने वाले हों, ऐसे पदार्थ सत्त्वप्रकृति के पुरुषों को परमप्रिय होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे पदार्थ उन्हें प्रिय क्यों लगते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ये सभी मधुर पवित्र पदार्थ आयु को बढ़ाने वाले होते हैं, धैर्य को बढ़ाते हैं, देह की शक्ति को सामर्थ्य को बल को बढ़ाते हैं तथा आरोग्य वर्धक होते हैं व्याधियों की नियमित परिमित खाने से वृद्धि नहीं करते। भोजन कर लेने पर मन में बड़ा आह्लाद होता है, सुख होता है, भोजन करते समय प्रसन्नता होती है, इन पवित्र पदार्थों के अवलोकन से चित्त में प्रसन्नता होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"राजसी प्रकृति के पुरुषों को कैसा आहार प्रिय होता है, कृपा करके इसको भी बताइये।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! अब भगवान् जैसे राजसी प्रकृति के प्रिय आहार का वर्णन करेंगे उसे मै आगे कहूँगा।"

छप्पय

अब सात्विक आहार कहूँ जो सात्विक जन प्रिय।
भोजन होहि विशुद्ध सुखद शुचि अतिई प्रिय हिय॥
आयु वृद्धि बल बढ़ै ओज सह नित्य बढावै।
प्रीति बढ़ावत हृदय इन्द्रियनि सुख पहुँचावै॥
सरस होहि इस्थिर रहै, चिकनौ अति मन भावनो।
करत लीक-सी जाइ हिय, अति ई सुख सरसावनो॥

राजस और तामस आहार

[५]

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥*

(श्री भग० गी० १७ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

राजस सुनु आहार पुरुष राजस प्रिय जो है।
कड़वो खावै खूब लौंन अति खट्टो सो है॥
खावै गरमागरम सुरसि सबरो मुख जावै।
तीखे रूखे बहुत स्वाद तैं तिनि कूँ खावैं॥
भोजन अतिई विदाही, दाह और चिन्ता करहिँ।
दुख शोक अरु रोग नित उदर राजसी इनि भरहिँ॥

---

*कड़वा, खट्टा, नमकीन, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही तथा दुःख, शोक और रोगों को बढाने वाला आहार, राजसी पुरुषों को प्रिय है ॥९॥

ठंडा, नीरस, गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट, अपवित्र-भोजन, तामसी प्रकृति के पुरुषों को प्रिय है ॥१०॥

रोगो के तीन स्थान हो सकते है। आत्मा मन और शरीर। आत्मा तो निर्विकार है इसीलिये आत्मा मे तो रोग सम्भव ही नही। अब बचे दो स्थान मन और शरीर। मानसिक रोगो को आधि कहते हैं और शारीरिक रोगो को व्याधि कहते हैं। मानसिक रोग सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण द्वारा हो सकते हैं। आयुर्वेद के मत से सत्वगुण निर्दोष है अत सत्वगुण मे दोष नही होता मानसिक रोगा के कारण रजोगुण और तमोगुण ये ही दो गुण है। बहुत मे रोग मानसिक होते हैं, बहुत से शारीरिक। बहुत से शारीरिक मानसिक दोनो ही। जसे कुष्ठ है वह शारीरिक रोग ही है, चर्म से बढते-बढते अस्थि तक पहुँच जाता है। मानसिक रोग जैसे काम का वेग यह मन से ही उठता है। प्राय: सभी रोगो का प्रभाव शरीर मन दोनो पर ही पडता है, मानसिक रोग का भी प्रभाव शरीर पर पडता है, और शारीरिक रोग का प्रभाव भी मन पर पडे विना नही रहता। किन्तु यहाँ इतना ही देखना है कि पहिले पहिल मन से उत्पन्न होकर पीछे जिसका प्रभाव शरीर पर पडा हो उसे मानसिक रोग कहते हैं, काम वासना सकल्प द्वारा मन मे ही प्रथम उत्पन्न होती है इसीलिये काम को मन्मथ मनोज मनसिज आदि कहते हैं, पीछे यह शरीर को भी व्यथित कर डालता है। दद्रु, खुजली, आदि कुष्ठ रोग पहिले पहिल शरीर में उत्पन्न होते हैं। पीछे इनका प्रभाव मन पर भी पडता है। इन रोगों के कारण मानसिक क्लेश भी होता है। कुछ रोग मन और शरीर मे साथ ही उत्पन्न होते हैं। जैसे उन्माद सन्यासादि। ये शरीर तथा मन मे साथ ही साथ होते हैं। उन्माद रोग मे मन तथा शरीर दोनो वश मे नहीं रहते। सन्यास रोग मे शरीर तथा मन दोनो ही शिथिल निष्कर्म बन जाते हैं।

मानसिक रोगो की सज्ञा आधि है और शारीरिक रोगो की सज्ञा व्याधि है। मानसिक रोग तो ईश्वरोपासना तथा रजोगुण तमोगुण के प्रभाव को घटाने से शान्त हो जाते हैं।

शारीरिक रोग दो प्रकार के होते हैं। एक निज, दूसरे आगन्तुक। निज रोग उन्हे कहते हैं, जो वात, पित्त और कफ द्वारा निज शरीर मे स्वत ही उत्पन्न हो जायं। जैसे ज्वर आदि ज्वर कही बाहर से नही आता। मिथ्या आहार और मिथ्या विहार से वात पित्त कफ ये दोष आमाशय मे आकर प्रकुपित हो जाते हैं। दोषो के प्रकुपित हो जाने से सम्पूर्ण शरीर पर उसका बुरा प्रभाव पडता है उसी का नाम निज रोग अथवा धातुज रोग कहते हैं, आगन्तुक रोग उसे कहते हैं, जो बाहर से आकर शरीर की धातुओ का विकृत कर दे। जैसे बाहर से कोई भूत पिशाच आकर शरीर मे प्रवेश कर जाय। कोई बैल भैंसा आदि शरीर मे सीग घुसा दे। सिंह, व्याघ्र, रीछ आदि शरीर को पजा नख दात स आकर क्षत विक्षत कर दे। कोई अस्त्र शस्त्र से प्रहार कर दे। शरीर को घायल बना दे। कोई बाहरी वस्तु लगाकर शरीर को विकृत कर द। ये आगन्तुक रोग है।

आगन्तुक रोग बाहर स आकर शरीर को क्षति पहुँचाते हैं फिर उनके प्रहार से शारीरिक धातुये प्रकुपित होती है। निज रोग वात पित्त कुपित होने से त्वचा तथा रस रक्तादि धातुओ को, वस्ति, हृदय और मूर्धादि मर्मों को, हड्डियो के जोडो को और नस नाडियो को तथा आतो मे जो भीतर आमाशय पक्वाशय आदि है उनको प्रभावित करते हैं। बस इसी कारण शरीर मे असख्यो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

समस्त निजी रोग उदर स ही उत्पन्न होते हैं। जैसे हम अन्न, जल, वायु और अग्नि चार वस्तुओ को खाते पीते हैं।

अन्न उसे कहते हैं जो खाया जाय। दूध, फल, गेहूँ चना जो भी खाया जाय जिससे प्राण तृप्त हो भूख शान्त हो उसे अन्न कहते हैं। जल को हम प्रत्यक्ष पीते ही हैं। वायु अन्न जल के साथ अथवा स्वास के साथ भीतर जाती है। अग्नि को प्रत्यक्ष नही खाते। गरमागरम दाल भात, साग भाजी खाते उनके साथ गरमी भी भीतर चली जाती है, गरम वायु के साथ अग्नि जाती है। एक जठराग्नि पेट मे सदा अड्डा जमाये बैठी ही रहती है। पेट मे जाकर जो भीतरी वायु बनकर शरीर मे दौडती रहती है, उसे वात कहते हैं, अग्नि जो भीतर पचाती है, रस मे अम्लादि मिलती है, शरीर को गर्मी पहुँचाती है, उस अग्नि के अश को पित्त कहते हैं। नाना रूपो मे मीठा जल जाकर जो मधुरता स्निग्धता पैदा करके शरीर की धातुओ को चिकना रखता है उसे कफ या श्लेष्म कहते हैं। शरीर को अरोग्य बनाने वाले तथा कुपित होने पर नाना रोगो को उत्पन्न करने वाले ये वात, पित्त और कफ ही है। ये बनते हैं आहार से अतः शरीर की आयु बढाना, उसमें धर्य को बढाना बल, बुद्धि आरोग्य को प्रदान करके सुखी बनना, तथा रोगो को उत्पन्न करके शरीर को चिता-ग्रस्त बनाकर दुखी बनाना ये सब कार्य आहार द्वारा ही होते हैं। इसलिये नियमित सात्त्विक आहार बल वीर्य को बढाकर सुख प्रदान करता है शरीर को निरोग रखता है। अब राजस आहार क्या करता है। इसका वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने सात्त्विकी लोगो के प्रिय आहार का वर्णन कर दिया तब, तब अर्जुन को राजसी और तामसी प्रकृति के पुरुषों को कैसा आहार प्रिय है। इसकी जिज्ञासा हुई। इस पर भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! अब मैं राजसी प्रकृति के पुरुषों के आहार का वर्णन करता हूँ।

वसे शरीर को आरोग्य रखने की दृष्टि से मधुर, कटु खट्टे नमकीन चरपरे और कषाय इन छै प्रकार के रसो का किसी न किसी प्रकार सेवन करना ही चाहिये। ये छै प्रकार के रस कम अधिक मात्रा मे उदर मे जाना ही चाहिये। यह बात नही कि सात्त्विक प्रकृति वाले सदा सर्वदा मीठे ही पदार्थों को खाते रहे नमकीन खट्टे चरपरे कडवे आदि पदार्थों को छूवें ही नही। इनको भी खाना चाहिये किन्तु न्यून मात्रा मे मधुर रस वाले पदार्थ उन्हे प्रिय लगते हैं। इनकी अपेक्षा उन्हे वे अधिक मात्रा मे सेवन करते है। किन्तु जो राजसी प्रकृति के पुरुष हैं उन्हे बहुत कडवे पदार्थ प्रिय है जैसे अधिक मात्रा मे पिसी हुई लाल मिरचें। उनके पदार्थों मे जब तक अधिक मात्रा मे मिरचें न डाली जायँ उन्हे स्वाद ही न आवेगा। अधिक खट्टे पदार्थ, जैसे अधिक मात्रा मे कच्चे आमो की कच्ची इमली आदि की खटाई। उन्ही को चटनी, उन्हो का रस। अधिक मात्रा मे नमकीन पदार्थों का सेवन उन्हे सब पदार्थ बहुत गरमा गरम चाहिये, दूध पीवेंगे, तो बहुत अधिक गरम रोटी खावेगे तो तुरन्त चूल्हे मे से निकाली हुई। सिरका आदि तीखे पदार्थ जैसे भागनी है चना चबैना हैं, अत्यन्त दाहक जो तालु आदि मे दाह उत्पन्न कर दे। जैसे अधिक मात्रा मे राई आदि। ये पदार्थ उन्हे अत्यन्त प्रिय हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"इनमे दोष क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"अत्यन्त कडवे, अत्यन्त नमकीन अत्यन्त गरम, अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त दाह कारक और अत्यन्त रूखे ये पदार्थ अन्त मे दुख देने वाले, चिन्ता को उत्पन्न करने वाले तथा रोगो उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसीलिये रजोगुण प्रधान

पुरुष प्रायः सदा रोगी ही बने रहते हैं और उन्हे वृद्धावस्था भी शीघ्र ही आ जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—"तामसी प्रकृति के पुरुषो को कौन सा आहार प्रिय होता है?"

भगवान् ने कहा—"उन्हे कडवा, खट्टा, नमकीन, तीखा, रूखा, दाहक और मीठे पदाथ तो प्रिय हैं ही, किन्तु उन्हे गरम पदार्थ विशेष प्रिय नही लगते। उन्हे पके अधपके का विचार नही होता। मास अडादि मे भी घृणा नही होती। उन्हे ठन्डा, सूखा, कई दिन का सडा जैसे मदिरा सिरका आदि हैं अधिक प्रिय हैं। बासी पदार्थ उन्हे अच्छे लगते हैं सडा माम जिसमें से दुर्गन्ध आ रही हो काजी के बड़े, सड़े अचार मछली ऐसे कई दिन के बासा पदार्थ प्रिय लगते हैं। उन्हे उच्छिष्ट अनुच्छिष्ट तथा पवित्र अपवित्र का भी कोई विचार नही। किसी का भी खाया हुआ हो उसे भी खा लेते हैं, किसी के साथ ही एक पात्र मे खा लेते हैं कहाँ बैठकर खा रहे हैं। किनके साथ खा रहे हैं, क्या पहिन कर खा रहे हैं, कैसी वस्तुओ को खा रहे हैं इसका कोई आचार विचार नही। जो आ जाय वही स्वाहा। यह तामसी लोगो के आचार हैं, ऐसा नीरस, बासी, दुर्गन्धयुक्त उच्छिष्ट तथा अपवित्र भोजन तामसी लोगो को प्रिय होता है। जब राजसी आहार ही दु:ख शोक और रोगो को उत्पन्न करने वाला होता है। तब यह तामसी नीरस अपवित्र दुर्गन्ध युक्त सडा आहार इनको क्यो न उत्पन्न करेगा, अब इस बात को अर्जुन! स्पष्ट क्यों कहलाते हो। बस, जो है सोई है। गोविन्दाय नमो नमः।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपने त्रिविध आहार का तो वर्णन कर दिया। अब कृपया त्रिविध यज्ञो के लक्षण और बता दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आगे जैसे भगवान् त्रिविध यज्ञों का वर्णन करेंगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

जो हैं तामस पुरुष तिनहिँ भोजन बतलाऊँ।
तामस भोजन दुखद ताहि अरजुन समझाऊँ॥
अति ठंडो रस रहित स्वाद तैं तामस खावैं।
बासी अति दुर्गन्ध युक्त तामस बतलावैं॥
जूठो कूठो अति अशुचि, जहाँ मिलै तहँ खात हैं।
तामसजन प्रिय भोज्य है, तामस खाइ सिहात हैं॥

त्रिविध यज्ञ

[६]

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय सात्त्विकः ॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥*

(श्री भग० गी० १७ अ ११, १२, १३ श्लो०)

छप्पय

कै प्रकार के यज्ञ होयँ अब तुम्हें सुनाऊँ ।
तीनि भाँति के यज्ञ प्रथम सात्त्विक बतलाऊँ ॥
फल की इच्छा बिना करै जो यज्ञ सुहावन ।
करै शास्त्र विधि सहित करैं मख अति मनभावन ॥
करै सदा करतव्य धी, समाधान मन कूँ सतत ।
सात्त्विक जन निज प्रकृति वस, रहैं यज्ञ-सात्त्विक निरत ॥

---

* जो यज्ञ विधिवत किया हो, कर्तव्य बुद्धि से किया हो, फल की इच्छा न रखने वालों द्वारा किया गया हो, मन का समाधान करके किया गया हो, वह सात्त्विकी यज्ञ है ॥११॥

यज् धातु देव पूजा, सगतिकरण, दान, यज्ञादि कई अर्थों मे प्रयुक्त होती है। साधारणतया जिसमे हवि दी जाय उसे यज्ञ कहते है। हु धातु से हवन बनता है। हवन यज्ञ का प्राय. एक ही अर्थ है। (१) सव, (२) अध्वर, (३), याग, (४) सप्ततन्तु, (५) मख (६) क्रतु, (७) इष्टि, (८) इष्ट, (९) वितान, (१०) मन्यु (११) आहव, (१२) सवन, (१३) हव, (१४) अभिषव, (१५) होम (१६) हवन (१७) मह ये सब शब्द यज्ञ के ही वाचक है। यज्ञो के अनेक भेद हैं। समस्त वेद यज्ञमय ही हैं। साधारणतया यज्ञ का अर्थ है देवताओ के लिये द्रव्य का त्याग करना। वे यज्ञ दो प्रकार के होते हैं, यज्ञ और होम। जिसमे खडे होकर हवन करते है और अन्त मे वषट्कार का प्रयोग होता है, उनकी याग सज्ञा है और जिनमे बैठकर हवन किया जाता है और अन्त मे स्वाहा का प्रयोग होता है तथा जो याज्या और पुरोनुवाक्य से रहित होते हैं उसे होम कहते हैं। वैसे गीता मे पीछे द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, तथा स्वाध्यायादि अनेक यज्ञो का वर्णन किया जा चुका है। कही ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ ये पाँच यज्ञ बताये हैं शिवपुराण मे कर्मयज्ञ, तपोयज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ इस प्रकार पाँच यज्ञ बताये गये हैं। इनमे ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ की सबसे अधिक प्रशसा की है। उनका कहना है कि और यज्ञ मे कुछ न कुछ हिंसा होती ही है, ध्यान

हे भरत श्रेष्ठ। जो यज्ञ, फल के उद्देश्य से अथवा दम्भार्थ किया गया हो, उस यज्ञ को तुम राजस समझो ॥१२।

जो यज्ञ विधि विहीन हो, जिसमे अन्नदान न किया गया हो, जो बिना दक्षिणा के बिना मन्त्रो के किया गया हो, श्रद्धा से रहित उस यज्ञ को तामस कहते हैं ॥१३॥ ।।